



देश में आत्महत्या की घटनाएं युवाओं के बीच असामान्य रूप से अधिक

अतिसंवेदनशील अंडमान और निकोबार द्वीप समूह को नष्ट करने पर उतारू केन्द्र सरकार



यह कुआर का घाम

पूछ रहा देश, अब आगे क्या?

गांधी जयंती, 2 अक्टूबर को जब यह अंक छपने के लिए प्रेस में जा रहा था, देश में एक नए असहयोग आंदोलन की शुरुआत हो रही थी। इसके लिए इससे बेहतर दिन नहीं हो सकता था। टैंड करता हैशटैग #JantarMantarSatyagraha केवल मुख्य चुनाव आयुक्त ज्ञानेश कुमार के इसीफे की मांग तक सीमित नहीं था: हमारे लिए यह ऐसा पल था मानो भारतीय एक नए स्वतंत्र संग्राम का शंखनाद कर रहे हों। जैसे ही स्वतंत्र पत्रकारों, सोशल ऐक्टिविस्ट्स, छात्रों और विपक्षी नेताओं समेत 700 से अधिक प्रदर्शनकारियों को दिल्ली के अलग-अलग थानों में हिरासत में लिया गया; जैसे ही मुंबई के शिवाजी पार्क में कड़ी पुलिस सुरक्षा के बीच हजारों लोग ‘ज्ञानू उठा ले झोला’ गाते हुए जुटे, यह साफ हो गया कि ज्ञानेश कुमार के खिलाफ महाभियोग की शुरुआत सड़कों पर तो हो चुकी है। हम भूल ना जाए कि यह अभियान सिर्फ ज्ञानेश कुमार को राफ़्त-दफ़्त करने की कोशिश तक सीमित नहीं, यह उस तंत्र से छुटकारा पाने की शुरुआत है जिसने ‘स्वाधीन’ भारतीयों को अपने ही देश में गुलाम बना दिया है। इस संग्राम में जुटे हमारे ‘दिमागी नक्सल’ बंधुओं के लिए कुछ सवाल:

ए.जे. प्रबल

हमें एसआईआर-पूर्व की आधारभूत सूची के बजाय 2024 की मतदाता सूचियों पर ही क्यों लौटना चाहिए ?

वर्ष 2024 के लोकसभा चुनावों में इस्तेमाल की गई मतदाता सूचियां देश भर में निर्विवाद और न्यायिक रूप से स्वीकार्य आखिरी सूची बनी हुई हैं। उसके बाद से, विशेषकर जून 2025 में एसआईआर शुरू होने के बाद से, मतदाता सूचियों में बड़े पैमाने पर फेरबदल किए गए हैं। विवादित आंकड़ों तथा बिना किसी स्पष्टीकरण के नाम जोड़ने और काटने के गंभीर आरोप तेजी से सामने आए हैं। महाराष्ट्र, कर्नाटक और हरियाणा के विधानसभा क्षेत्रों की रिपोर्टें बड़े पैमाने पर गड़बड़ियों की ओर इशारा करती हैं: हजारों की संख्या में दोहरे मतदाता, फर्जी या अमान्य पते, मतदाताओं की अविश्वसनीय उम्र और संदिग्ध रूप से जोड़े गए नए नाम-जहां पांच साल में होने वाली सामान्य मतदाता वृद्धि को छह महीने में ही समेट दिया गया।

पिछले साल अगस्त, सितंबर और नवंबर में लोकसभा में विपक्ष के नेता राहुल गांधी ने कर्नाटक, महाराष्ट्र और हरियाणा में खुली हेराफेरी के जरिये मतदाता सूचियों में की गई विसंगतियों, नामों के जोड़े और काटे जाने के खेल का पर्दाफाश किया था।

मतदाता सूचियां आमतौर पर धीरे-धीरे विकसित होती हैं, जो जन्म, मृत्यु, प्रवासन और जरूरी सुधारों को दिखाती हैं। पर्याप्त सार्वजनिक सूचना या सुनवाई के बिना नाम जोड़े और काटे जाने में यह अचानक उछाल पारदर्शिता और निष्पक्षता के बुनियादी सिद्धांतों का सीधा उल्लंघन है। सबसे अहम बात यह है कि एसआईआर ने स्थापित परंपराओं के उलट पात्रता साबित करने का पूरा जिम्मा नागरिकों पर डाल दिया, जबकि नियम यह रहे हैं कि नाम काटने पर अधिकारी उसका कारण बताएं।

2024 की मतदाता सूचियों की बहाली की मांग इसलिए नहीं है कि वे पूरी तरह सही थीं, बल्कि इसलिए है क्योंकि वे अंतिम सर्वस्वीकृत पैमाना हैं। वे राजनीतिक दलों, सिविल सोसाइटी और मतदाताओं को बदलावों



की वैधता की पड़ताल करने और बाद के संशोधनों को जांचने का आधार देती हैं। इस आधारभूत सूची को खारिज करके विवादित एसआईआर-पश्चात सूचियों को अपनाया चुनावी विश्वसनीयता और जन-विश्वास दोनों के लिए बड़ा खतरा है।

चुनाव आयुक्तों की नियुक्ति से जुड़े 2023 के कानून को क्यों निरस्त किया जाना चाहिए ?

मुख्य निर्वाचन आयुक्त और अन्य निर्वाचन आयुक्त (नियुक्ति, सेवा शर्तें और पदावधि) अधिनियम, 2023, जिसे सरकार ने दिसंबर में अधिसूचित किया था, मार्च 2023 के सुप्रीम कोर्ट के उस फैसले की मूल भावना के बिल्कुल उलट था जिसमें जस्टिस के.एम. जोसेफ की अध्यक्षता वाली संविधान पीठ ने आदेश दिया था कि निर्वाचन आयोग की स्वतंत्रता को कार्यपालिका के हस्तक्षेप से बचाया जाना चाहिए।

अंतरिम व्यवस्था के तौर पर शीर्ष अदालत ने चुनाव आयुक्तों की नियुक्ति के लिए प्रधानमंत्री, भारत के मुख्य न्यायाधीश और लोकसभा में विपक्ष के नेता को मिलाकर एक कॉलेजियम बनाने की सिफारिश की थी। हालांकि, बिना तर्कसंगत कारण के, उसी साल बाद में 2023 का यह अधिनियम पारित कर दिया गया, जिसने प्रधानमंत्री और उनकी पसंद के एक केन्द्रीय मंत्री को कॉलेजियम का हिस्सा बना दिया। इससे नियुक्ति प्रक्रिया पर कार्यपालिका का नियंत्रण पूरी तरह मजबूत हो गया-वही नियंत्रण जिसे सुप्रीम कोर्ट कमजोर करना चाहता था।

हमें 2024 की वोटर लिस्ट पर वापस क्यों जाना चाहिए? क्योंकि यह सभी की ओर से स्वीकार किया गया आखिरी पैमाना है

ऐसी व्यवस्था निर्वाचन आयोग की निष्पक्षता को गंभीर रूप से प्रभावित करती है। स्वतंत्रता में यह संघ उस धारणा को और हवा देती है कि चुनाव आयोग सत्ताधारी दल के प्रति झुकाव रखता है। चुनाव आयुक्तों को आपराधिक मुकदमों से आजीवन छूट देने का यह प्रावधान तो जनभावनाओं को और भड़काने वाला है। यह ऐसा अप्रत्याशित विशेषाधिकार है जो जवाबदेही पर गंभीर सवाल खड़े करता है। आखिर सरकार ऐसा क्या मानकर चल रही थी कि वे किस तरह की आपराधिक गतिविधियों में शामिल होंगे?

निर्वाचन आयोग की स्वतंत्रता सुनिश्चित करने और कार्यपालिका के मनमाने दखल पर अंकुश लगाने के लिए एक नए कानून की सख्त जरूरत है, जिसमें गैर-सत्तारूढ़ विपक्षी दलों की अनिवार्य भागीदारी हो।

एसआईआर प्रक्रिया के बीच में ही चुनाव आयोग ‘ईरोनेट’ से ‘ईसीआईनेट’ पर क्यों चला गया ? यह क्या दिखाता है ?

‘ईरोनेट’ को मूल रूप से एक ऐसे निर्णय-सहायता तंत्र’ के रूप में तैयार किया गया था जो विधानसभा क्षेत्र के स्तर पर मतदाता सूचियों के पुनरीक्षण में निर्वाचक रजिस्ट्रीकरण अधिकारियों (ईआरओ) की मदद करता। यह विसंगतियों को चिह्नित करने में मदद तो करता था, लेकिन जनप्रतिनिधित्व अधिनियम के तहत मिले वैधानिक अधिकारों के अनुसार अंतिम फैसला ईआरओ के विवेक पर ही छोड़ा था। इसके

उलट, ‘ईसीआईनेट’ केन्द्रीकृत निर्णय-प्रक्रिया है और यह आयोग के आईटी प्रभाग को अंतिम प्राधिकारी बना देती है। यह कदम सत्ताधारी दल के आईटी सेल द्वारा चुनावी डेटा के तालमेल और नियंत्रण के आरोपों के लिए दरवाजे खोलता है।

मीडिया रिपोर्टों के मुताबिक, महाराष्ट्र के मुख्य निर्वाचन अधिकारी और दोनों निर्वाचन आयुक्तों-एस. एस. संधू और विवेक जोशी-ने स्वतंत्र रूप से यह बात उठाई थी कि ईआरओ को ईसीआईनेट का एक्सेस नहीं दिया जा रहा था और मानवीय विवेक के बिना केवल मशीनी एल्गोरिदम ही ‘तार्किक विसंगतियों’ की पहचान कर रहे थे। इसके बावजूद, चुनाव आयोग ने जनवरी 2026 में ईरोनेट से ईसीआईनेट पर जबरन माइग्रेशन कर दिया, जबकि एसआईआर प्रक्रिया अभी चल ही रही थी और लाखों के रिकॉर्ड की जांच हो रही थी।

ईसीआईनेट को एक तकनीकी अपग्रेड के रूप में पेश किया गया था, जो चुनाव आयोग के 40 से अधिक एप्लीकेशन और सेवाओं को एक ही प्लेटफॉर्म पर साथ लाता था। प्रक्रिया के बीच में तकनीक का यह अप्रत्याशित बदलाव न केवल बृथ लेवल अधिकारियों (बीएलओ) और ईआरओ जैसे जमीनी स्तर के अधिकारियों के लिए बाधक बना, बल्कि इसने जवाबदेही को भी ईंसानों से छीनकर ऐसे केन्द्रीकृत एल्गोरिदम पर डाल दिया। यह बदलाव इस बात का उदाहरण है कि चुनावी तकनीक का इस्तेमाल पारदर्शिता को खत्म करने के औजार के रूप में कैसे किया जा सकता है। गलतियों के लिए ईआरओ और बीएलओ की तो जवाबदेही तय की जा सकती है, लेकिन मतदाता किसी तकनीकी प्लेटफॉर्म को कटघरे में कैसे खड़ा करेंगे?

अगस्त 2025 में उप चुनाव आयुक्त संजय कुमार को आयोग से क्यों हटाया गया ?

‘द इंडियन एक्सप्रेस’ की 22 सितंबर की रिपोर्ट से यह बात सामने आई कि संधू और जोशी ने ईसीआईनेट, ईआरओ को पहुंच से वंचित किए जाने और पश्चिम बंगाल में मतदाताओं के नाम हटाने के लिए चुनाव आयोग की ओर से की गई अनधिकृत अपीलों पर लिखित में गहरी चिंता जताई थी। उन्होंने आईटी प्रभाग की देखरेख कर रहे उप चुनाव आयुक्त संजय कुमार- जो प्रतिनियुक्ति पर चुनाव आयोग में तैनात थे- को ईसीआईनेट का स्वतंत्र ऑडिट और समानांतर विभागीय ऑडिट कराने का निर्देश दिया था। कुमार ने महानिदेशक (आईटी) डॉ. सीमा खन्ना को पत्र लिखकर दोनों चुनाव आयुक्तों की चिंताओं से अवगत कराया और ऑडिट कराने की मांग की।

हालांकि, जब कुमार कुछ दिनों की छुट्टी पर थे, उन्हें वापस उनके मूल कैडर में भेज दिया गया और उनका प्रभार वरिष्ठ उप चुनाव आयुक्त संदीप गर्ग को सौंप दिया गया, जिन्होंने तुरंत ही ऑडिट की जरूरत को खारिज कर दिया। बताया जाता है कि इसी घटनाक्रम के बाद दोनों आयुक्तों ने कैबिनेट सचिव को औपचारिक शिकायत भेजी थी। डैमज कंट्रोल की कवायद में चुनाव आयोग ने बाद में दावा किया कि गर्ग द्वारा जारी आदेशों को कभी लागू नहीं किया गया था, कुमार अपने पद पर वापस आ चुके हैं और आईआईटी दिल्ली के एक प्रोफेसर की विशेषज्ञता वाली समिति ईसीआईनेट के कामकाज की समीक्षा करेगी।

शेष पेज 2 पर ▶

‘आयोग सत्ताधारी दल के इशारे पर काम करने वाला जल्लाद नहीं हो सकता’



केरला के पूर्व मुख्य निर्वाचन अधिकारी टीका राम मीणा मुख्य चुनाव आयुक्त ज्ञानेश कुमार को अच्छे से जानते हैं क्योंकि दोनों आईईएस (केरला कैडर, 1988 बैच) में सहयोगी रहे हैं। मीणा ज्ञानेश कुमार को एक काबिल अधिकारी और अच्छा दोस्त बताते हैं, लेकिन इस वजह से अपनी बात कहने में हिचकते भी नहीं। वह बेबाकी से कहते हैं कि मुख्य चुनाव आयुक्त को इसीफा दे देना चाहिए ‘क्योंकि वह जनता का भरोसा खो चुके हैं।’ विवादतास्पद एसआईआर प्रक्रिया में कुमार की भूमिका ने चुनाव आयोग की साख पर बड़ा लगाया है और मतदाता सूचियों को लेकर गंभीर संदेह पैदा किए हैं। लेकिन इससे इतर मीणा की बड़ी चिंता इस संवैधानिक संस्था को मौजूदा सरकार के अस्तर से बचाकर स्वतंत्र बनाए रखने की है। उन्होंने राजस्थान में अपने गृह जनपद सवाई माधोपुर से फोन पर के.ए. शाजी से बातचीत की। संपादित अंश:

आप दशकों से ज्ञानेश कुमार को जानते हैं। आप दोनों आईईएस में बैचमेट रहे हैं। एक अधिकारी के तौर पर आप उनके बारे में आपका क्या आकलन है ?

हम अच्छे दोस्त रहे हैं और वह एक काबिल ईंसान हैं। लेकिन निजी दोस्ती एक बात है और संवैधानिक जिम्मेदारी बिल्कुल दूसरी। चुनाव आयोग एक बेहद ताकतवर संवैधानिक संस्था है। यह किसी का मातहत नहीं हो सकता-न तो मौजूदा सरकार का और न ही सत्ताधारी दल का।

यह किसी राजनीतिक आका को खुश करने के लिए काम नहीं कर सकता।

चुनाव आयोग को अन्य सरकारी संस्थाओं से क्या चीज अलग बनाती है ?

चुनाव आयोग को निष्पक्ष चुनाव कराने का संवैधानिक जिम्मा सौंपा गया है। इसे लोकतंत्र और संघवाद की रक्षा करनी ही होगी। आयोग जनता और संविधान के प्रति जवाबदेह है। सरकार या सत्ताधारी दल चुनाव आयोग को यह

निर्देश नहीं दे सकते कि चुनाव कैसे कराए जाएं। चुनाव आयोग को पारदर्शी होना चाहिए। इसे विश्वसनीय होना चाहिए। यह सत्तासीन पार्टी के हाथों का औजार नहीं बन सकता।

आप केरला के मुख्य निर्वाचन अधिकारी (सीईओ) रहे हैं। उस अनुभव ने आपके नजरिए को कैसे गढ़ा ?

जब मैं सीईओ था, तो कोई भी फैसला लेते समय मैंने कभी इस बात की परवाह नहीं की कि केरला में किसकी सरकार है। अगर नियमों का उल्लंघन हुआ, तो मैंने कार्रवाई की। आप मुझे उस दौर से जानते हैं-हम अक्सर मिलते थे। अगर आदर्श आचार संहिता का उल्लंघन हुआ, तो मैंने सख्त कदम उठाए। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता था कि गलती सत्ताधारी दल की है या विपक्ष की। चुनाव आयोग को पूरी तरह निष्पक्ष होना ही चाहिए।

आपने ज्ञानेश कुमार को कब और क्यों पत्र लिखा था ?

पिछले साल नवंबर में। चुनाव आयोग के कामकाज, खासकर एसआईआर को लेकर तमाम शिकायतें सामने आ रही थीं। मैं ज्ञानेश को व्यक्तिगत रूप से जानता था, इसलिए मैंने उन्हें सीधे लिखना उचित समझा। मैंने कई गंभीर चिंताएं जताईं और उन पहलुओं का उल्लेख किया जिन्हें मैं प्रक्रियागत उल्लंघन मानता था। उन्होंने कोई जवाब नहीं दिया।

इसके बाद मैंने अन्य दोनों चुनाव आयुक्तों-

सुखबीर सिंह संधू और विवेक जोशी को पत्र लिखा। एक मेरे बैचमेट हैं और दूसरे अच्छे मित्र। मैंने उनसे आग्रह किया कि वह आगे आएँ और अपनी संवैधानिक जिम्मेदारी निभाएं, नियम-पुस्तिका का पालन करें और गलत फैसलों को चुनौती दें।

क्या आपको लगता है कि बाद में आयोग के भीतर जो कुछ हुआ, उसका कारण आपका पत्र था ?

टीआरएम मेरा मानना है कि मेरे सुझावों ने उन्हें अपनी स्थिति मजबूत करने में मदद की। मेरे लिखने के बाद, उन्होंने ज्ञानेश के कुछ फैसलों पर सवाल उठाने शुरू किए। मुझे इस बात का संतोष है। तीनों आयुक्तों को स्वतंत्र रूप से अपने विवेक का इस्तेमाल करना चाहिए; वे केवल इसलिए किसी फैसले पर मुहर नहीं लगा सकते क्योंकि मुख्य चुनाव आयुक्त ने ऐसा तय किया है। चुनाव आयोग एक बहु-सदस्यीय आयोग है; यह अकेले ज्ञानेश कुमार नहीं है।

आपने एसआईआर की तीखी आलोचना की है। क्या आप मतदाता सूची के पुनरीक्षण के खिलाफ हैं ?

कतई नहीं। मतदाता सूचियों का पुनरीक्षण अनिवार्य रूप से होना चाहिए। उसमें फर्जी नाम हो सकते हैं। गलतियां हो सकती हैं। ऐसे लोग हो सकते हैं जिनकी मृत्यु हो चुकी हो या जो कहीं ओर चले गए हों।

शेष पेज 2 पर ▶



भजन-कीर्तन का शोर और गायब होते मतदाता



स्वास्थ्य मंत्री जे.पी. नड्डा, केन्द्रीय प्रशासनिक न्यायाधिकरण (कैट) के चेयरमैन, हरियाणा के पूर्व मुख्यमंत्री भूपिंदर हुड्डा, सरकार के तीन पूर्व सचिव और सीबीआई और आईबी के अधिकारी हैं, जिनके खिलाफ चतुर्वेदी ने अवमानना की कार्रवाई शुरू की थी।

पिछले तेरह सालों में सुप्रीम कोर्ट के दो और उत्तराखंड हाईकोर्ट के चार जजों, कैट के नौ जजों (जिनमें कैट के एक पूर्व चेयरमैन भी शामिल हैं) और दो जिला जजों ने खुद को मामलों से अलग किया है।

बिना कोई कारण बताए खुद को अलग करने वाले पहले जज 2013 में रंजन गोगोई (सुप्रीम कोर्ट) थे। कैट दिल्ली बेंच के ज्यूडिशियल मेंबर जस्टिस राजवीर सिंह वर्मा, हाल ही में ऐसा करने वाले 17वें जज बने हैं।

चतुर्वेदी ने पहला केस 2013 में दर्ज कराया था। बतौर हरियाणा कैडर के अधिकारी, उन्होंने उन गड़बड़ियों की सीबीआई जांच की मांग की जिनमें सरकार के वरिष्ठ अधिकारी शामिल थे। तब से अब तक वह भ्रष्टाचार से जुड़ी 200 जांचें शुरू कर चुके हैं।

इनमें से एक मामला नई दिल्ली के ‘ऑल इंडिया इंस्टीट्यूट ऑफ मेडिकल साइंसेज’ (एम्स) से जुड़ा था, जहां चतुर्वेदी ‘चीफ़ विजिलेंस ऑफिसर’ थे। आरटीआई एक्ट के तहत मिली जानकारी से पता चला कि 23 अगस्त 2014 को प्रधानमंत्री मोदी ने तत्कालीन स्वास्थ्य मंत्री हर्षवर्धन को बुलाकर चतुर्वेदी को हटाने के बारे में चर्चा



जे.पी. नड्डा, केन्द्रीय प्रशासनिक न्यायाधिकरण (कैट) के चेयरमैन, हरियाणा के पूर्व मुख्यमंत्री भूपिंदर हुड्डा, सरकार के तीन पूर्व सचिव और सीबीआई और आईबी के अधिकारी हैं, जिनके खिलाफ चतुर्वेदी ने अवमानना की कार्रवाई शुरू की थी।

एरिथम सहगल

क्या भारतीय सेना द्वारा बद्दीनाथ में ‘भजन जैमिंग’ सेशन आयोजित करना उचित था? स्थानीय पुजारी हों, नागरिक या मुरली मनोहर जोशी जैसे भाजपा के वरिष्ठ नेता, इस दो दिवसीय ‘सांस्कृतिक उत्सव’ (19-20 सितंबर) से सब नाखुश हैं। हिन्दू धर्म के सर्वाधिक पवित्र तीर्थस्थलों में से एक के इतने करीब डीजे का तेज संगीत, तीखी स्टेज लाइटिंग और डॉसर्स का थिरकना कितना सही था? ज़्यादातर लोग यही मानते हैं कि उस बद्दीनाथ के शांत, आध्यात्मिक माहौल को- जहां शंखध्वनि भी वर्जित है, इस तरह खराब नहीं किया जाना चाहिए था।

शुरू में तो जिला प्रशासन ने स्थानीय अधिकारियों को ‘कारण बताओ नोटिस’ देकर मामला रफ़ा-दफ़ा करने की कोशिश की, लेकिन यह सामने आने के बाद कि इसमें चमोली के जिला मजिस्ट्रेट गौव कुमार और मुख्यमंत्री पुष्कर सिंह धामी, दोनों ही शामिल थे, जिम्मेदारी एक-दूसरे पर डालने लगे।

गढ़वाल स्काउट्स के कमांडिंग ऑफिसर कर्नल शांतनु कुमार को लिखित तौर पर फटकार लगानी पड़ी: ‘पवित्र तीर्थ पर इतना

भारी जमावड़ा और ऐसी तेज आवाज का इस्तेमाल तीर्थस्थल की गरिमा के खिलाफ है और इससे श्री बद्दीनाथ धाम में रोजना होने वाली पूजा-अर्चना पर बुरा असर पड़ता है। ऐसे आयोजन से धार्मिक विद्वानों में नाराजगी है और इसने स्थानीय प्रशासन की छवि पर भी असर डाला है... सुनिश्चित करें कि भविष्य में ऐसी स्थिति दोबारा न बने।’

बचाव में सेना ने कहा कि यह फेस्टिवल ‘ऑपरेशन सद्भावना’ के तहत लोगों से जुड़ने की उनकी पहल का हिस्सा था और जिला प्रशासन तथा पर्यटन विभाग के सहयोग से आयोजित था। सवाल है कि हाल ही में दिल्ली में जब खुद प्रधानमंत्री भजन गाते दिखे थे, तो इस बात पर हैरानी क्यों कि इस कार्यक्रम की अध्यक्षता मुख्यमंत्री ने की?

संजीव चतुर्वेदी का दिलचस्प मामला

आईएफएस अधिकारी, व्हिसलब्लोअर और मैगसायसाय अवॉर्ड से सम्मानित संजीव चतुर्वेदी से जुड़े मामलों से एक के बाद एक जज क्यों बदलते रहे हैं? देहरादून में चल रही चर्चाओं पर यकीन करें, तो इसकी एक वजह पीएमओ, प्रधानमंत्री की अध्यक्षता वाली कैबिनेट अपॉइंटमेंट कमिटी, पूर्व

वहां दिन में तीन घंटे से भी कम बिजली मिल रही है।

तो अपने-आप हट गए नाम?

राज्य में हुए एसआईआर में ‘अयोग्य’ करार दिए जा चुके 95,000 मतदाताओं में से कितने ही लोग इस जद्दोजहद में उलझे दिखे कि अंतिम मतदाता सूची (3 अक्टूबर को जारी होने वाली) में नाम शामिल करा सके। एसआईआर प्रक्रिया के दौरान ‘फ़ॉर्म 7’ के लगभग 1.73 लाख आवेदन मिले, जिनमें से 95,000 से ज़्यादा, यानी आधी से ज़्यादा को



‘अयोग्य’ घोषित कर दिया गया।

राज्य के सीईओ बी.वी.आर.सी. पुरुषोत्तम ने बताया कि असिस्टेंट इलेक्टोरल रजिस्ट्रेशन ऑफिसर (ईईआरओ) और इलेक्टोरल रजिस्ट्रेशन ऑफिसर (ईआरओ) द्वारा वोटरों को अयोग्य घोषित करने के बाद मसौदा सूची अपने आप (ऑटो-जेनरेट) तैयार हो गई थी। उत्तराखंड कांग्रेस की प्रभारी कुमारी शैलजा ने सवाल उठाया कि जब 42,030 ‘फ़ॉर्म 7’ आवेदन ईईआरओ से और 22,443 ईआरओ से जुड़े थे, तो ये अपने आप कैसे जेनरेट हो सकते हैं।

सीईओ ऑफिस ने स्पष्ट किया कि ‘अयोग्य’ घोषित होने का मतलब यह नहीं कि वोटर लिस्ट में शामिल होने का रास्ता हमेशा के लिए बंद हो गया है। उन्हें बस जरूरी डॉक्यूमेंट्स के साथ समय पर ‘फ़ॉर्म 6’ जमा करना था। ■

पूछ रहा देश, अब आगे क्या?



फोटो: बिपिन

►► पेज एक का शेष

अनियमितताओं की याचिकाओं के बावजूद सुप्रीम कोर्ट ने एसआईआर को हरी झंडी क्यों दी?

कानूनी नजरिये से देखें तो सुप्रीम कोर्ट ने मतदाता सूचियों के रखरखाव और पुनरीक्षण के चुनाव आयोग के संवैधानिक अधिकार की पुष्टि की, जिसमें गैर-नागरिकों और अपात्र मतदाताओं को हटाने का अधिकार भी शामिल है। लेकिन याचिकाकर्ताओं ने जहां एसआईआर के त्रुटिपूर्ण क्रियान्वयन पर गंभीर चिंताएं जताई थीं-जिसमें नागरिकों पर ही पात्रता साबित करने का बोझ डालना और बड़े पैमाने पर प्रक्रियागत विसंगतियां शामिल थीं- वहीं अदालत का ध्यान मुख्य रूप से आयोग की शक्तियों की कानूनी वैधता पर ही केन्द्रित रहा, न कि इस पूरी कवायद के निष्पादन या निष्पक्षता पर।

आलोचकों का तर्क है कि किसी प्रक्रिया की वैधानिकता और उसके क्रियान्वयन की वैधानिकता दो अलग-अलग बातें हैं, जिन पर अदालत को गौर करना चाहिए था। इसके अलावा, शीर्ष अदालत ने इस तथ्य की अनदेखी की कि एसआईआर को देश भर में लागू किया गया, जबकि चुनावी नियम केवल विशेष जनसांख्यिकीय परिस्थितियों में और पूर्व लिखित स्पष्टीकरण के साथ ही ऐसे ‘विशेष’ पुनरीक्षण की अनुमति देते हैं।

अदालत के इस रुख के पीछे फैसले का वक्त एक वजह हो सकता है, क्योंकि तमाम गड़बड़ियां हाल के दिनों में ही खुलकर सामने आई हैं। बहरहाल, एसआईआर को चुनौती देने वाली कई याचिकाएं अब भी लंबित हैं, जिससे आगे न्यायिक

समीक्षा की उम्मीद अभी बाकी है।

क्या इन परिस्थितियों में देश संस्थागत समाधानों पर भरोसा कर सकता है?

सरकार, चुनाव आयोग और न्यायपालिका पर जनता का भरोसा आज बेहद निचले स्तर पर है। एसआईआर की प्रक्रिया में गंभीर खामियां हैं और इसका क्रियान्वयन बेहद संदिग्ध रहा है। इसके बावजूद, बहुत कम लोगों को उम्मीद है कि ये संस्थाएं अपनी गलतियों को स्वीकार करेंगी और सुधार के लिए तैयार होंगी।

ऐसे में राजनीतिक दलों और नागरिक समाज के सामने इस विकट स्थिति से सीधे दो-दो हाथ करने की कठिन चुनौती है। कानूनी विशेषज्ञों का कहना है कि एसआईआर से अनुचित रूप से प्रभावित मतदाताओं के पास अब भी अदालतों का दरवाजा खटखटाने का विकल्प खुला है। जैसा कि एक प्रमुख सोशल ऐक्टिविस्ट ने कहा- अगर मुख्य चुनाव आयुक्त पर संसद में महाभियोग नहीं चलाया गया, तो जनता सड़कों पर उनका फैसला करेगी।

एक सुझाव यह भी है कि चुनाव आयुक्तों को भले ही कानूनी छूट हासिल हो, लेकिन सीमा खन्ना जैसे प्रशासनिक अधिकारियों को यह सुरक्षा प्राप्त नहीं है। उनके कार्यकाल के दौरान हुए अनुबंधों, सॉफ्टवेयर की तैनाती (ईसीआईटी की रूपरेखा) और वेंडरों के चयन की स्वतंत्र जांच कराए जाने का पर्याप्त आधार बनता है।

लगातार चलने वाला नागरिक प्रतिरोध और सटीक कानूनी कदम ही अंततः संस्थाओं को अपनी व्यवस्थागत कमियों को सुधारने के लिए मजबूर कर सकते हैं। सवाल यही है कि क्या देश अब इस चुनौती के खिलाफ उठ खड़ा होगा? ■

►► पेज एक का शेष

लेकिन सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि कोई भी पात्र मतदाता छूटने न पाए। एसआईआर की प्रक्रिया निष्पक्ष, पारदर्शी और कानून सम्मत होनी चाहिए। मेरी आपत्ति इसके तरीके और समय को लेकर है। इतने बड़े काम को चुनाव से ठीक पहले आनन-फ़ानन में निपटाना सही नहीं है। आखिर यह हड़बड़ी क्यों? चुनावी मौसम में ही इसे क्यों किया जाए? जनता को साथ लीजिए। राजनीतिक दलों को शामिल कीजिए। तय प्रक्रियाओं का पालन कीजिए। लोगों को अपनी पात्रता साबित करने का पूरा मौका दीजिए।

फॉर्म 6 में किए गए बदलावों को लेकर भी आपकी गंभीर आपत्तियां हैं

फॉर्म 6 चुनावी प्रक्रिया की सबसे बुनियादी कड़ी है क्योंकि इसका उपयोग नए मतदाताओं को जोड़ने के लिए किया जाता है। ज्ञानेश ने तय प्रक्रिया का पालन किए बिना फॉर्म 6 में मनमाने फेरबदल किए। मैं इसे गैर-कानूनी मानता हूं। आप एक्तरफा तरीके से फॉर्म 6 के स्वरूप को नहीं बदल सकते। चुनाव आयोग सिर्फ इसलिए अपनी मनमर्जी नहीं चला सकता क्योंकि वह चुनाव आयोग है। देश में कानून है। नियम हैं। संवैधानिक प्रक्रियाएं हैं। आयोग को उनका पालन करना ही होगा।

ज्ञानेश कुमार और बाकी दोनों आयुक्तों के बीच सामने आए मतभेदों को आप किस तरह देखते हैं?

जिन फैसलों से वे असहमत हों, उन पर सवाल उठाना उनकी संवैधानिक जिम्मेदारी है। मैं इसका स्वागत करता हूं। मैंने उन्हें पत्र लिखकर आग्रह किया था कि वे निष्पक्ष रहें, लीयों का पालन करें और गलत बातों का विरोध करें। उन्हें डरने की जरूरत नहीं है। उन्हें लाचार बनने की जरूरत नहीं है। उन्हें मजबूती से खड़ा होना चाहिए।

चुनाव आयोग और सत्ताधारी दल के रिशतों को लेकर आपने बेहद सख्त रुख अपनाया है।

चुनाव आयोग को सत्ताधारी दल का पिछलगू साझेदार नहीं बनना चाहिए। बिल्कुल साफ शब्दों में कहूं तो यह सत्ताधारी दल का जल्लाद नहीं बन सकता। यह सत्ताधारी दल को ही सत्ता में बनाए रखने के मकसद से काम नहीं कर सकता।

आपने नौकरशाहों के प्रधानमंत्री मोदी से डरने की बात कही है। इस पर थोड़ा विस्तार से बताएं?

प्रस्ताव पहली बार 86 साल पहले रखा गया था, लेकिन तब से इस इलाके का पर्यावरण बहुत बदल चुका है। भूकंप के लिहाज से संवेदनशील इलाके में 232 मीटर ऊंचा ग्रेविटी बांध बनाना मुसीबत को न्योता देने जैसा है। इससे 20 गांवों के 5,000 से ज़्यादा लोग विस्थापित होंगे और हज़ारों एकड़ उपजाऊ खेती की ज़मीन बर्बाद हो जाएगी। ग्रामीण बांध की ऊंचाई कम करने और इसकी जगह को उपजाऊ ‘क्वानुअ’ इलाके से कहीं और बदले जाने के लिए आंदोलन कर रहे हैं।

किशाऊ बांध प्रभावित सुरक्षा समिति के प्रमुख मुन्ना राणा ने कहा, “हमने धामी से मुलाक़ात करके बताया कि बांध बनने वाली जगह की ज़मीन मजबूत चट्टान वाली नहीं है। कई जगहों पर ज़मीन पहले ही धंस चुकी है। अफसोस है कि सरकार ने हमारी चेतावनियों पर ध्यान नहीं दिया।”

बिजली सप्लाई पर अल नीनो का असर

उत्तराखंड पावर कॉर्पोरेशन लिमिटेड (यूपीसीएल) के प्रबंध निदेशक पी.सी. ध्यानी के मुताबिक, अल नीनो के कारण पूरे राज्य में जलस्तर नीचे चला गया है। नदियों में बहाव कम होने से बिजली उत्पादन (पीक आवसं के दौरान) पिछले साल के 1094 मेगावाट से घटकर इस साल 912 मेगावाट रह गया है। राज्य को 53 मिलियन यूनिट बिजली चाहिए, लेकिन अभी सिर्फ़ 48 मिलियन यूनिट ही सप्लाई हो पा रही है। सेंट्रल यूनिट से होने वाली सप्लाई पर भी असर पड़ा है क्योंकि तकनीकी दिक्कतों की वजह से टिहरी गढ़वाल हाइड्रो प्रोजेक्ट बंद है।

भारी उद्योग15 घंटे से ज़्यादा बिजली कटौती झेल रहे हैं। हाइड्रो पावर से कम बिजली बनने और शाम के समय सोलार पावर से बिजली का उत्पादन घटने की भरपाई के लिए जब जनरेटर से ज़्यादा बिजली बनाई जा रही है, तब थर्मल पावर प्लांट भी अपनी पूरी क्षमता से काम नहीं कर पा रहे हैं, क्योंकि कोयले का स्टॉक तेज़ी से खत्म हो रहा है। नतीजतन राज्य के बड़े हिस्से अंधेरे में हैं और

हासिल करना होगा। इसे जनता का सम्मान फिर से पाना होगा। इसीलिए मैं खुलकर बोल रहा हूं। ज्ञानेश के प्रति मेरे मन में कोई व्यक्तिगत द्वेष नहीं है; वह मेरे मित्र हैं। लेकिन केवल इसलिए कि वह मित्र हैं, मैं चुप नहीं बैठ सकता।

आपने तो उनके इस्तीफे तक की मांग कर दी है!

अगर लोगों का आपसे भरोसा उठ गया है, तो आपको पद पर बने रहने का कोई नैतिक हक नहीं। अगर स्वतंत्र चुनाव कराने का जिम्मा संभालने वाली किसी संस्था ने जनता का भरोसा खो दिया है, तो उसके मुखिया को इसकी जिम्मेदारी लेनी होगी। मेरा मानना है कि ज्ञानेश को इस्तीफा देना चाहिए। उन्हें अपने फैसलों के बारे में जनता को स्पष्टीकरण भी देना चाहिए।

केरला के पूर्व मुख्य सचिव जिजी थॉमसन के उस आरोप को आप किस तरह देखते हैं कि ज्ञानेश कुमार ने कभी उन्हें भाजपा के टिकट पर चुनाव लड़ने का सुझाव दिया था?

वह आरोप बेहद संगीन है। अगर सेवा में पदस्थ एक वरिष्ठ नौकरशाह दूसरे सेवार्त वरिष्ठ नौकरशाह के पास जाकर भाजपा के टिकट पर चुनाव लड़ने का सुझाव देता है, तो यह राजनीतिक निष्पक्षता पर गंभीर सवाल खड़े करता है।

मैं यह नहीं कह रहा कि केवल यह आरोप अपने आप में सब कुछ साबित कर देता है, लेकिन यह एक संगीन आरोप है और इसका खंडन सामने आना ही चाहिए।

आपने यह भी कहा है कि मुख्य चुनाव आयुक्त द्वारा लिए गए निर्णयों की दोबारा समीक्षा होनी चाहिए। आप इसे किस हद तक ले जाना चाहते हैं?

मेरा मानना है कि पिछले कुछ वर्षों के दौरान ज्ञानेश द्वारा लिए गए सभी निर्णयों की गहन पड़ताल होनी चाहिए। कानून के खिलाफ जाकर या अनिवार्य विचार-विमर्श के बिना लिए गए फैसलों पर पुनर्विचार होना चाहिए। जवाबदेही तय होनी ही चाहिए।

आप अब सरकार में नहीं हैं और वहां राजस्थान में रह रहे हैं। इन मुद्दों से जुड़ाव कैसे बना हुआ है?

मैं खेती-किसानी और समाज सेवा में लगा हुआ हूं। समाज से जुड़े मुद्दों पर अपनी बात रखने के लिए मैं सोशल मीडिया का इस्तेमाल करता हूं। मेरे पास बचाने के लिए कोई कुर्सी नहीं, न ही कोई राजनीतिक आका है। मैं बेबाकी से बोल सकता हूं। और ऐसा तो मैंने अपनी सेवा में रहते हुए भी हमेशा किया। ■

वाकोडे प्रसंग के हाशिये पर कुलबुलाते सवाल

देश में छात्रों में आत्महत्या बढ़ती जा रही है, लेकिन उनके तनाव पर मीडिया पर्याप्त ध्यान नहीं दे रहा

जयदीप हर्डीकर

आईआईटी बॉम्बे में द्वितीय वर्ष के छात्र साहिल वाकोडे की हालिया आत्महत्या ने इस शीर्ष संस्थान में जातिगत भेदभाव के कथित आरोपों से जुड़े सवाल नए सिरे से खड़े कर दिए हैं। पुलिस उन परिस्थितियों की जांच कर रही है जिनके चलते 18 सितंबर को साहिल की मौत हुई। यह घटना परीक्षा के दौरान कथित रूप से अनुचित साधनों के इस्तेमाल से जुड़ी एक घटना के बाद सामने आई थी।

जहां साहिल का परिवार इसे जाति-आधारित उत्पीड़न मान रहा है जिससे वह खुदकुशी के लिए मजबूर हुआ, वहीं आईआईटी-बॉम्बे प्रशासन का कहना है कि छात्र ने कभी जातिगत भेदभाव की शिकायत दर्ज नहीं कराई थी। संस्थान के अधिकतर संकाय सदस्य संबंधित प्रोफेसर के पक्ष में खड़े दिखाई दिए हैं।

उम्मीद की जानी चाहिए कि मामले की निष्पक्ष जांच होगी। लेकिन साहिल की आत्महत्या एक और निराशाजनक हकीकत की ओर ध्यान खींचती है। वर्ष 2020-21 से 2024-25 के बीच केवल आईआईटी संस्थानों में (जिनकी संख्या अब 23 है) 45 छात्रों ने आत्महत्या की जबकि 2022-23 में छह, 2023-24 में 16 और 2024-25 में 13 ऐसे मामले दर्ज हुए थे। इन 45 छात्रों में से 28 एससी, एसटी और ओबीसी समुदायों से थे।

पूरे देश में आत्महत्या की घटनाएं युवाओं के बीच असामान्य रूप से अधिक हैं। वर्ष 2016 में ‘द लांसेट’ में प्रकाशित ‘ग्लोबल बर्डन ऑफ डिजीज’ अध्ययन में पाया गया था कि 15 से 39 वर्ष की आयु के लोगों में मौत का सबसे बड़ा कारण आत्महत्या थी। आठ साल बाद, हालात और बदतर हो चुके हैं।

राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो (एनसीआरबी) के ताजा आंकड़े इस समस्या की गंभीरता का एक और पैमाना पेश करते हैं। भारत में वर्ष 2024 के दौरान 14,488 छात्रों ने आत्महत्या की, जबकि 2014 में यह संख्या 8,068 थी-यानी एक दशक में करीब 80 फीसद वृद्धि। वर्ष 2024 में कुल दर्ज 1,70,746 आत्महत्याओं में छात्रों की हिस्सेदारी 8.5 फीसद थी, जो 2014 में 6.1 फीसद थी।

वर्ष 2014 से 2024 के दशक के दौरान यह रुझान लगातार बढ़ता रहा, सिवाय

2022 के, जब सालाना आधार पर इसमें मामूली गिरावट दर्ज हुई थी। वर्ष 2024 में महाराष्ट्र में छात्रों की आत्महत्या के सबसे अधिक मामले (1,909) दर्ज किए गए, जिसके बाद उत्तर प्रदेश (1,585), मध्य प्रदेश (1,447) और तमिलनाडु (1,287) का स्थान रहा। ये चार राज्य ही भारत में कुल 43 फीसद छात्र आत्महत्याओं के लिए जिम्मेदार थे।

वैसे, मृत्यु के ये आंकड़े कहानी का केवल आधा हिस्सा बयां करते हैं। वर्ष 2024 में ‘इंडियन जर्नल ऑफ साइकोलॉजिकल मेडिसिन’ में प्रकाशित एक अध्ययन में नौ भारतीय राज्यों के 15 शहरों के 30 विश्वविद्यालयों के 8,542 कॉलेज छात्रों (औसत आयु: 20 वर्ष) का सर्वेक्षण किया गया। इसके नतीजे विचलित करने वाले थे। हर पांचवें छात्र (18.8 फीसद) ने माना कि उसके मन में कभी-न-कभी खुदकुशी का खयाल आया। हर आठवें (12.4 फीसद) ने पिछले वर्ष के दौरान आत्महत्या के विचार आने की बात कही, जबकि 6.7 फीसद ने कभी-न-कभी आत्महत्या के प्रयास की बात कही। दूसरे शब्दों में, आत्महत्या के आधिकारिक आंकड़े युवाओं की उस बड़ी संख्या को नहीं दिखाते जो खुद को गंभीर नुकसान पहुंचाने की मनोदशा से जूझ रहे हैं।

उसी शोध कार्यक्रम से जुड़े विश्लेषण में आत्महत्या के विचारों और प्रयासों के कारकों की पड़ताल की गई। इसमें पारिवारिक रिश्ते, तनाव, चिंता, नशीले पदार्थों का सेवन और खुद को चोट पहुंचाने की प्रवृत्ति जैसे तमाम पहलू शामिल हैं। यह प्रमाण है कि इस समस्या को केवल परीक्षा के तनाव या कैपस में परामर्श सुविधाओं की मौजूदगी या कमी तक सीमित नहीं किया जा सकता।

दूसरा ‘नीट’

भारत के आवधिक श्रम बल सर्वेक्षण (पीएलएफएस) 2025 के अनुसार, 15 से 29 वर्ष के युवाओं में ऐसे लोगों का अनुपात 25 फीसद है जो न तो किसी रोजगार में हैं, न शिक्षा में और न ही किसी व्यावसायिक प्रशिक्षण में। यानी हर चौथा युवा भारतीय इस स्थिति में है।

मान सकते हैं कि एक बेरोजगार युवा नौकरी खोज रहा होगा। लेकिन ‘नीट’ श्रेणी वाला युवा न तो पढ़ाई कर रहा होता है, न काम कर रहा होता है, न प्रशिक्षण ले रहा



आईआईटी बॉम्बे में अपने ही एक साथी की मौत के बाद छात्र विरोध-प्रदर्शन कर रहे हैं। 2020 और 2025 के बीच, पूरे भारत के आईआईटी में आत्महत्या के 45 मामले सामने आए हैं

होता है और न रोजगार तलाश रहा होता है। इस श्रेणी में कई अलग-अलग परिस्थितियां शामिल हैं और इसे सीधे बेरोजगारी के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए। भारत के युवा संकट को समझने के लिए इस बारीक अंतर को समझना जरूरी है।

इस दावे का पर्याप्त साक्ष्य नहीं है कि व्यवस्था से अलगाव ही आत्महत्या की वजह बनता है। लेकिन हमारे पास यह सवाल उठाने के पर्याप्त आधार हैं कि क्या कुठित आकांक्षाएं, आर्थिक अनिश्चितता, सामाजिक अकेलापन और मुख्यधारा से लंबे समय तक कटाव उस व्यापक परिदृश्य का हिस्सा हैं? ताजा पीएलएफएस आंकड़े (सितंबर 2026) 15 से 29 वर्ष के ‘नीट’ युवाओं के अनुपात में राज्य स्तर पर पर्याप्त भिन्नता दिखाते हैं।

जहां राष्ट्रीय औसत 25 फीसद (हर चौथा) है, वहीं बिहार में यह 32.1 फीसद, पश्चिम बंगाल में 29.9, उत्तर प्रदेश में 29.1, त्रिपुरा में 28.1, पंजाब में 27.7,

2016 में लांसेट में प्रकाशित ग्लोबल

बर्डन ऑफ डिजीज अस्ट्ययन में पाया

गया था कि 15 से 39 वर्ष की आयु के

लोगों में मौत का सबसे बड़ा कारण

आत्महत्या थी। फिलहाल हालात

और भी बदतर हो चुके हैं

कैसे कोई बनता है ज्ञानेश कुमार

कुमार का कार्यकाल क्यों विवादों में रहा, इसकी गुत्थी सुलझाने के लिए करना होगा केरला का रुख

अधिकारी और जनप्रतिनिधि मौजूद थे, मुस्तफा ने बालू खनन माफिया पर लचर कार्रवाई और जिला कलक्टर द्वारा कथित तौर पर उन्हें संरक्षण दिए जाने को लेकर सीधे ज्ञानेश कुमार को घेरा। बात देखते ही देखते तीखी बहस में बदल गई। कुमार ने मुस्तफा से तलख लहजे में कहा, ‘चुनाव घोषित हो चुके हैं। मैं जिला निर्वाचन अधिकारी हूं। अगर आप तमीज से बात नहीं कर सकते, तो मैं यह बैठक छोड़कर चला जाऊंगा।’ कांग्रेस के दिग्गज नेता भी पीछे हटने वालों में नहीं थे। मुस्तफा ने पलटवार किया, ‘आप खुद को समझते क्या हैं? मैं पूर्व मंत्री और मौजूदा विधायक हूं। हम बालू माफिया के साथ आपकी साठगांठ अच्छी तरह जानते हैं।’

विवाद बढ़ते देख जल संसाधन मंत्री टी.एम. जैकब ने ने बीच-बचाव किया। वह कुमार को तत्कालीन डीआईजी मोहम्मद यासीन के साथ फौरन बगल के कमरे में लेकर चले गए और किसी तरह टकराव टला।

उस समय कलामरसेरी नगर पालिका के अध्यक्ष रहे जमाल मनक्कदन उस घटना के प्रत्यक्षदर्शी थे। वह कहते हैं: ‘उस दौर में हमें कलक्टर द्वारा बालू माफिया का पक्ष लेने की लगातार शिकायतें मिल रही थीं। इस विषय पर मुस्तफा उन्हें आड़े हाथ लेना चाहते थे और जब मामला उठा तो कुमार बुरी तरह घबरा गए। उनके बैठक में मैंने भी व्यक्तिगत रूप से उनसे उनके संदिग्ध लेन-देन को लेकर सवाल पूछे थे।’

यद्यपि ये आरोप कुमार के खिलाफ किसी औपचारिक भ्रष्टाचार के मुकदमे में तब्दील नहीं हो सके, लेकिन इस टकराव ने उस

दौर में खूब सुर्खियां बटोरें, जब अवैध बालू खनन एर्नाकुलम का सबसे संवेदनशील राजनीतिक मुद्दा बन गया था। इस बीच कुमार का प्रशासनिक करियर तेजी से उड़ान भरता रहा। एर्नाकुलम के सहायक कलक्टर से लेकर कोचीन नगर निगम के आयुक्त, और केरल स्टेट को-ऑपरेटिव बैंक के प्रबंध निदेशक से लेकर उद्योग एवं वाणिज्य निदेशक तक- कुमार महत्वपूर्ण पदों पर रहे और फिर कलक्टर बनकर एर्नाकुलम लौटे। लेकिन लोक निर्माण विभाग के सचिव के रूप में उनके कार्यकाल ने उनकी केरल में तैनाती का सबसे संगीन विवाद खड़ा कर दिया।

साल 2006 में कुमार पीडब्ल्यूडी सचिव थे और राज्य की प्रमुख सड़कों के कायाकल्प के लिए विश्व बैंक द्वारा वित्तपोषित ‘केरल स्टेट ट्रांसपोर्ट प्रोजेक्ट’ से सीधे जुड़े थे। इस काम का एक ठेकेदार ‘पाती-बीईएल’ था, जो मलेशियाई कंपनी ‘पाती’ और ‘भागीरथ कंस्ट्रक्शंस’ का भारत-मलेशियाई संयुक्त उद्यम था।

मलेशियाई इंजीनियर और प्रोजेक्ट मैनेजर ली बीन सीन कंपनी के केरला ऑपरेशंस के प्रमुख थे। जिन सड़कों का चौड़ीकरण होना था, उनमें केरला की लाइफलाइन मानी जाने वाली मेन सेंट्रल रोड (तिरुवनंतपुरम को कोट्टायम होते हुए अंगमाली से जोड़ने वाली) शामिल थी। इसके तहत खतरनाक मोड़ों को सीधा करना, ढलानों को सुधारना, पुलों को मजबूत करना और सड़क की सतह का आधुनिकीकरण करना था। परियोजना ने केरला को एक मजबूत राजमार्ग तो दिया, लेकिन इसके पीछे की दादतान बेहद स्याह और दागदार रही।

परियोजना भुगतान विवादों, लेटलतीफी, भूमि अधिग्रहण और संविदात्मक शर्तों को लेकर कानूनी पचड़ों में उलझ गई। ठेकेदार कंपनी और पीडब्ल्यूडी के बीच काम में रुकावटों की जिम्मेदारी को लेकर तीखे मतभेद पैदा हो गए। तंग आकर ली कुआलालंपुर लौट गए। 11 नवंबर 2006 को वह एक पार्क में लोहे के पुल से लटके पाए गए। मलेशियाई इंजीनियर की मौत ने इस ठेके के विवाद को बड़े प्रशासनिक घोटाले में बदल दिया। उनके सुसाइड नोट में उत्पीड़न, भ्रष्टाचार और परियोजना से जुड़े अफसरों-जिनमें ज्ञानेश कुमार भी शामिल थे-द्वारा पैदा की गई गंभीर समस्याओं का विस्तार से उल्लेख था। केरला सरकार ने फौरन कुमार को पीडब्ल्यूडी सचिव के पद से हटा दिया और सतर्कता (विजिलेंस) जांच के आदेश दे दिए।

पूर्व वित्त मंत्री और माकपा नेता डॉ. टी.एम. थॉमस आइजैक बताते हैं, ‘कंपनी ने अनुबंध के उल्लंघनों को लेकर शिकायतों की झड़ी लगा दी थी और नुकसान के हजाने की मांग कर रही थी। इसके जवाब में पीडब्ल्यूडी की तरफ से ठेकेदार को कमियों और लापरवाहियों को गिनाते हुए एक भी चिट्ठी नहीं भेजी गई।’ इस अजोबोगरीब रवैये से नाराज होकर आइजैक ने कुमार को तलब किया और पूछा कि ठेकेदार को नोटिस क्यों नहीं भेजे गए। ‘कुमार ने कहा कि वह भेजने की सोच रहे थे। इस गैर-जिम्मेदाराना जवाब से मुझे बहुत गुस्सा आया।’

अगर ठेकेदार वाकई नियमों का उल्लंघन कर रहा था, तो पीडब्ल्यूडी ने इसका कोई दस्तावेजी रिकॉर्ड क्यों तैयार नहीं किया? विवाद

उस खौफनाक मोड़ तक कैसे पहुंच गया जहां एक विदेशी प्रोजेक्ट मैनेजर को आत्महत्या करनी पड़ी? विजिलेंस जांच आज तक किसी तार्किक नतीजे पर नहीं पहुंची। तब विजिलेंस के एडीजीपी रहे सिबी मैथ्यूज सवाल करते हैं: ‘जब एक अफसर सतर्कता जांच के घेरे में था, तो राज्य सरकार से उसे केंद्रीय प्रतिनियुक्ति के लिए अनापत्ति (क्लियरेंस) कैसे दे दी?’

तत्कालीन एडीजीपी (इटैलिजेंस) जैकब पुनूस का कहना है कि ‘कानूनी अड़चनों’ के कारण केरला पुलिस सुसाइड नोट की पड़ताल नहीं कर सकी। ‘इसके अलावा, मलेशियाई पुलिस से भी कभी आधिकारिक तौर पर हमसे संपर्क नहीं साधा।’

मामले के कागजी सबूतों की कड़ी कभी सार्वजनिक नहीं की गई। सड़क बनकर तैयार हो गई, ली की कब्र पर खामोशी छा गई और कुमार का प्रशासनिक रसूख निर्बाध बढ़ता रहा। वह केंद्र सरकार में आ गए, जहां उन्हें रक्षा मंत्रालय में संयुक्त सचिव, गृह मंत्रालय में अतिरिक्त सचिव, संसदीय कार्य मंत्रालय में सचिव और सहकारिता मंत्रालय में सचिव जैसे रसूखदार पदों की जिम्मेदारी दी गई। गृह मंत्रालय में उनके पास जम्मू-कश्मीर का अहम प्रभार था और वह ‘श्री राम जन्मभूमि तीर्थ क्षेत्र ट्रस्ट’ के गठन से जुड़े संवेदनशील प्रशासनिक मामलों के सीधे कर्ता-धर्ता रहे।

सोशल ऐक्टिविस्ट जोसेफ सी. मैथ्यू कहते हैं, ‘यह प्रशासनिक छलांग चौकाने वाला है। केरला काडर का अधिकारी, जिसका बालू माफिया के मुद्दे पर एक वरिष्ठ नेता से

विजिलेंस जांच का सामना करते हुए कुमार ने डेपुटेशन के लिए राज्य सरकार से मंजूरी कैसे हासिल की?

सार्वजनिक टकराव हुआ हो, जिसका नाम विश्व बैंक परियोजना में रिश्वतखोरी के गंभीर आरोपों और सुसाइड नोट में दर्ज हुआ हो, और जिसकी सतर्कता जांच लंबित रहने के बावजूद केंद्र में प्रतिनियुक्ति हुई हो-वह केंद्रीय नौकरशाही के सबसे ताकतवर पायदानों पर आसीन कर दिया गया।’

सबसे ताजा आरोप केरला के पूर्व मुख्य सचिव जीजी थॉमसन ने लगाया। थॉमसन ने खुलासा किया कि साल 2016 में, जब दोनों वरिष्ठ नौकरशाह थे, दिल्ली की एक विमान यात्रा के दौरान कुमार ने उनसे भाजपा के टिकट पर पथानमथिट्टा से लोकसभा चुनाव लड़ने की बात कही थी। नरेन्द्र मोदी की शान में कसौदे पढ़ते हुए उन्होंने थॉमसन को चुनावी राजनीति में उतरने के लिए मनाने की पूरी कोशिश की थी। थॉमसन ने मलयालम समाचार चैनल ‘एशियानेट’ को दिए साक्षात्कार में बताया, ‘वह बेहद आक्रामक अंदाज में मुझे मना रहे थे, लेकिन मैंने हाथ जोड़कर इनकार कर दिया।’

थॉमसन का यह संस्मरण प्रमाण है कि एक सेवारत आईएसएस अधिकारी और सत्तारूढ़ दल के राजनीतिक एजेंट के बीच की सीमाएं धुंधली हो चुकी थीं। वह पुरानी निजी बातचीत आज के हालात की रोशनी में और घातक व मायनेखेज हो जाती है।

ज्ञानेश कुमार जनवरी 2024 में सेवानिवृत्त हुए। महज दो महीने बाद उन्हें चुनाव आयुक्त नियुक्त कर दिया गया। और 19 फरवरी 2025 को वे देश के 26वें मुख्य चुनाव आयुक्त की कुर्सी पर बैठा दिए गए। इसके बाद राष्ट्रीय स्तर पर विवादों का बवंडर उठने में देर नहीं लगी। चुनाव आयोग में उनके कार्यकाल पर मतदाता सूचियों के ‘विशेष गहन पुनरीक्षण’, मतदान आंकड़ों में विसंगतियों, सीसीटीवी फुटेज और आयोग की आंतरिक कार्यप्रणाली को लेकर तीखे विवादों का साथा रहा है। विपक्षी दलों ने उनके नेतृत्व वाले चुनाव आयोग पर सत्ता के पक्ष में काम करने के आरोप लगाए हैं।

पेरियार नदी आज भी अपनी रफ्तार से बह रही है। ली बीन सीन की मौत और पुराने घोटालों के बहुत बाद भी मेन सेंट्रल रोड पर गाड़ियां बेरोकटोक दौड़ रही हैं। इन पुराने विवादों की जांच फाइलें आज भी दफ्तरो में धूल फांक रही हैं। लेकिन जैसे-जैसे नए विवाद ज्ञानेश कुमार के इस्तीफे की मांगों को हवा दे रहे हैं, उनके अतीत के ये अनसुलझे सवाल और गहरे होते जा रहे हैं। ■

के.ए. शाजी

केरला की सबसे विशाल और जीवनदायिनी पेरियार नदी को एक-एक टुक बालू के लिए बेरहमी से खोदा जा रहा था। 2000 का दशक आने-आते, राज्य की व्यावसायिक राजधानी कोच्चि वाले एर्नाकुलम जिले में यह अवैध खनन एक बयावह पारिस्थितिक, आर्थिक और राजनीतिक नासूर का रूप ले चुका था।

इस तरह नदी ने इलाके में कंक्रीट के निर्माण को पंख तो लगा दिए, लेकिन रेत के अंधाधुंध दोहन ने नदी के पूरे तल को बदल डाला, उसके किनारों को खोखला कर दिया और पुलों, भूजल स्तर व खारे पानी के फैलाव को लेकर खतरे की घंटियां बजा दीं। केरल हाईकोर्ट ने इस अंधाधुंध दोहन और अनियंत्रित खनन को रोकने में प्रशासनिक तंत्र की विफलता पर पहले ही गंभीर संज्ञान ले लिया था। रेत भारी मुनाफे का काला धंधा बन चुकी थी और इसके दोहन को नियंत्रित करने वाले सिंडिकेट सियासी हलकों में बेहद ताकतवर हो चुके थे।

केरला काडर के 1988 बैच के आईएसएस अधिकारी ज्ञानेश कुमार जून 2001 से जुलाई 2004 तक एर्नाकुलम के जिला कलेक्टर थे। यह वही दौर था जब उनका टकराव तत्कालीन कुन्नातुनाड के विधायक और राज्य के पूर्व नागरिक आपूर्ति मंत्री टी.एच. मुस्तफा से हुआ। कांग्रेस के वरिष्ठ नेता मुस्तफा रसूखदारों और भ्रष्ट अफसरों से सीधी टक्कर लेने के लिए जाने जाते थे।

सूखे के हालात पर चर्चा के लिए बुलाई गई एक बैठक में, जहां वरिष्ठ नौकरशाह, पुलिस



पंजाब में अब वंशावली का कोई महत्व नहीं रहा

सियासत की राह महलों के दरवाजों से नहीं, गांवों के चौपालों से निकलती है

हरजेट्हर पाल सिंह

आजादी के बाद पंजाब के सियासी इतिहास में किसी नेता के बारे में मतदाता का पहला सवाल होता था: ‘बंदा खानदानी है?’ खानदानी होने का मतलब था-लंबा ड़ाड़ववे वाली आलीशान कोठी, पुरखों की सैकड़ों एकड़ जमीन, ऐसा उपनाम जो चंडीगढ़ और दिल्ली के सत्ता-गलियारों के दरवाजे खोल दे, और दून स्कूल के रीयूनियन के मुफीद फरटिदार अंग्रेजी। बीते एक दशक में इस सवाल की जगह खामोशी से एक दूसरे सवाल ने ले ली है: ‘साढ़ूे वरगा ऐ?’ (क्या वह हम जैसा है?) यह मामूली दिखने वाला बदलाव पंजाब की सियासत में इस सदी का शायद सबसे गहरा और युगांतरकारी मोड़ है।

इसका मतलब यह नहीं कि आम आदमी ने कुलीन वर्ग का बेरिया बिस्तर बांध दिया है। यह उससे कहीं ज्यादा बारीक अहसास है: पंजाब का वोटर अब हुक्मरानों से मनोवैज्ञानिक नजदीकी चाहता है। पुराने सत्ता-प्रतिष्ठान पर नजर डालिए। कैप्टन अमरिंदर सिंह-पटियाला के शाही घराने के वारिस, फौजी, इतिहासकार, मोती बाग पैलेस के नफीस मेजबान, लुटियंस दिल्ली के चहेते और ऐसे शख्स जिनसे मिलना उनके अपने मंत्रियों तक के लिए नामुमकिन माना जाता था। बादल परिवार-पांच बार के मुख्यमंत्री प्रकाश सिंह बादल और उनके एमबीए डिग्रीधारी बेटे, जिन्होंने सिख किसानों की पार्टी को एक पारिवारिक जागीर में बदल दिया, जहां पिता, पुत्र, बहू और तमाम रिश्तेदार सत्ता की मलाई चाटने में जुटे रहे। प्रताप सिंह बाजवा-संसदीय चमक-दमक वाले स्थापित कांग्रेसी घराने से। सुनील जाखड़-पूर्व केन्द्रीय मंत्री के संभ्रांत और शालीन बेटे। सिमरनजीत सिंह मान-एक जमींदार राजनीतिक परिवार के पूर्व आईपीएस अधिकारी, जिनकी कट्टर सियासत भी कुलीन वर्ग की पृष्ठभूमि में लिपटी हुई थी।

इन सभी की साझी पूंजी रुतबा थी: खानदान, बेहिसाब दौलत, अंग्रेजी तालीम, नौकरशाही में पैठ और दिल्ली दरबार में नीतिगत बातें करने का सलीका। सियासत मुगलिया दरबार की तरह चलती थी। फरियादी दरवाजे पर खड़ा रहता था; अर्जी कार्यकर्ता से जथेदार, जथेदार से विधायक

और विधायक से शीर्ष नेता तक पहुंचती थी- एक ऐसी रिले रेस जिसमें बैटन शायद ही कभी आखिरी लकीर तक पहुंच पाता था। ये रसूखदार परिवार गायब नहीं हुए हैं। जमीनें, पैसा और रसूख आज भी उनके पास है। जो उनसे छिना है, वह है जनता के बीच वैधता का उनका एकाधिकार।

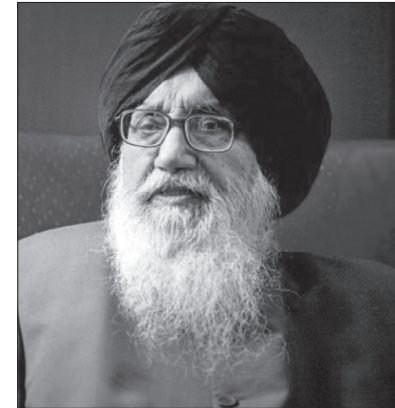
साल 2022 के विधानसभा चुनावों ने इसपर बेरहमी से मुहर लगा दी: अमरिंदर सिंह पटियाला से हारे, प्रकाश सिंह बादल लंबी से, उनके बेटे सुखबीर जलालाबाद से और कभी अजेय माना जाने वाला शिरोमणि अकाली दल महज तीन सीटों पर सिमट गया। उनकी जगह किसने ली? संगरूर के सतौज गांव का एक हास्य कलाकार भगवंत मान- जिसकी आवाज को पंजाब के लोग चुनावी घोषणापत्र पढ़ने से बहुत पहले कैसेटों और टीवी के जरिये घर-घर पहचानते थे। चरणजीत सिंह चन्नी- जो खरड़ की नगरपालिका राजनीति की सीढ़ियां चढ़ते हुए 2021 में पंजाब के पहले दलित मुख्यमंत्री बने। जिस सूबे की करीब एक-तिहाई आबादी दलित हो, उसने तब तक अपने में से किसी को सत्ता के शीर्ष पर नहीं देखा था। अमृतपाल सिंह-2022 में दुबई से लौटा एक शख्स, जिसने ‘वारिस पंजाब दे’ की कमान संभाली और दूर असम की डिब्रूगढ़ जेल में राष्ट्रीय सुरक्षा कानून में बंद रहते हुए भी 2024 में खडूर साहिब सीट से करीब दो लाख वोटों के अंतर से लोकसभा चुनाव जीत लिया-बिना किसी औपचारिक पार्टी, बिना पोस्टर और बिना एक भी चुनावी रैली किए।

इनके औजार पुराने हुक्मरानों के तौर-तरीकों से एकदम उलट है: जमीनी जुड़े, कच्ची भावनाएं, ड्राईंग-रूम की अंग्रेजी के बजाय टेंट पंजाबी, बिना लाग-लेपट वाली बोली और एक स्मार्टफोन जो उनका निजी ब्रॉडकास्टिंग स्टेशन बन चुका है। पुराना नेता कहता था, ‘मैं तुम्हारा नुमाइंदा हूं’; नया नेता कहता है, ‘मैं तुम जैसा ही हूं।’

दुनिया भर के लोकतंत्रों में जनता ने कुलीन शासकों, उनके अहंकार और असंवेदनशीलता के खिलाफ मोर्चा खोला है। नव-उदारवादी आर्थिक सुधारों के तीन दशकों ने जीतने वालों की चमक को बहुत नुमाया और हारने वालों के गुस्से को खूंखार बना दिया। 2008 की मंदी ने लोगों को बताया कि बैंक दिवालिया होने

पर बेलआउट पाते हैं, जबकि मजदूरों को नौकरी से निकालने की पर्चियां थमाई जाती हैं। कोरोना महामारी ने जख्म पर नमक छिड़का- पैदल अपने गांवों को लौटते प्रवासी मजदूरों की तस्वीरें सामूहिक स्मृति पर गहरे घाव की तरह चस्पा हैं। बढ़ती गैर-बराबरी ने बाकी कसर पूरी कर दी।

पारंपरिक बिचौलियों-संपादकों, पार्टी आकाओं और कथित जानकारों-को दरकिनार कर दिया गया है। इसने जहां बाहरी ताकतों के हाथ मजबूत किए हैं, वहीं इसने फर्जी सूचनाओं के लिए सारे दरवाजे भी खोल दिए हैं। पंजाब की तासीर हमेशा से असलियत और खालिसपन को तरजीह देती आई है। सिख परंपरा ‘संगत और पंगत’ की बुनियाद पर रची गई-जहां लंगर में राजा और रंक एक ही कतार में बैठकर एक ही खाना खाते हैं। पंजाबी संस्कृति दो-टूक बात, अनख (स्वाभिमान), व्यक्तिगत साहस और ऊंच-नीच के पदानुक्रम के प्रति एक स्वाभाविक अविश्वास को मान देती है। उसके पास जन-आंदोलनों की एक लंबी साझा स्मृति है, जिसका ताजा उदाहरण



धीरे-धीरे लेकिन निश्चित रूप से, प्रकाश सिंह बादल, अमरिंदर सिंह और सुनील जाखड़ जैसे 'एलीट' नेताओं की जगह भगवंत सिंह मान, अमृतपाल सिंह और चरणजीत चन्नी ने ले ली है

2020-21 का किसान आंदोलन था, जहां किसान यूनियनों ने नेताओं को अपने मंचों से दूर रखा था। ऐसी मेज पर सादगी और जमीनी जुड़ाव कोई दिखावा नहीं, बल्कि मुख्य खुराक होती है।

संचार क्रांति के इस दौर में मनोरंजन राजनीतिक पूंजी में तब्दील हो चुका है। आधुनिक राजनीति अब सिर्फ भाषणों, घोषणापत्रों और नीतिगत दस्तावेजों तक महदूद नहीं रही; इसे कहानियों, व्यंग्य, नारों, भावुक पलों और जुमलों के जरिये मंचित भी किया जाता है। जो नेता जनता का ध्यान खींचने और उससे सीधा संवाद साधने का हुनर जानते हैं, सोशल मीडिया के इस दौर में वे स्वाभाविक बढ़त बना लेते हैं।

भगवंत मान इस बदलाव की मुकम्मल मिसाल हैं। एक लोकप्रिय हास्य कलाकार और मंच के फनकार के रूप में उनके अतीत ने उनके हास्यबोध, कहानी कहने की कला, सही टाइमिंग और भीड़ को बांधने के हुनर को तराशा। कला की ये खूबियां बाद में उनके राजनीतिक संवाद का सबसे धारदार हथियार बन गईं, जो जटिल से जटिल राजनीतिक संदेशों को भी आम जनमानस तक आसानी से पहुंचाने और जेहन में उतारने में मददगार साबित हुईं। व्यंग्यकार मान, वंचितों-शोषितों के प्रतिनिधि बने चन्नी और बागी उपदेशक की छवि वाले अमृतपाल- ये तीन चेहरे आज के पंजाब की सियासत में अलग नजर आते हैं।



धीरे-धीरे लेकिन निश्चित रूप से, प्रकाश सिंह बादल, अमरिंदर सिंह और सुनील जाखड़ जैसे 'एलीट' नेताओं की जगह भगवंत सिंह मान, अमृतपाल सिंह और चरणजीत चन्नी ने ले ली है

विचारधारा के स्तर पर तीनों में कोई मेल नहीं है, लेकिन सियासी वजूद के लिहाज से वे एक ही सांचे से निकले लगते हैं।

इनमें से हर किसी को पार्टी के कारखाने से निकले उत्पाद के बजाय ‘जनता का हीरो’ माना जाता है। हर कोई सचिवालय की औपचारिक फाइलों के बजाय गांव की बोली-बानी में संवाद करता है। हर किसी के तेवर में सत्ता के खिलाफ बगावत है। हर किसी ने पार्टी के पारंपरिक पायदानों को लांघकर जनता से सीधा, जज्वाती रिश्ता साधा है। और सबसे बढ़कर, इनमें से हर व्यक्ति महलों के भीतर बैठने के बजाय बाहर दरवाजे पर खड़ा रहा। हालांकि, इस स्थिति का एक ऐसा स्याह पहलू भी है जिससे हर नेता को देर-सवेर रूबरू होना ही पड़ता है। आप सत्ता-प्रतिष्ठान पर हमला करके अपना सफर शुरू करते हैं, लेकिन जिस दिन आप चुनाव जीतते हैं और शपथ लेते हैं, उसी दिन आप खुद उस सत्ता-प्रतिष्ठान का हिस्सा बन जाते हैं।

मान को अब उनके चुटकुलों और पंचलाइनों से नहीं, बल्कि नशे, कर्ज, बेरोजगारी और कानून-व्यवस्था के मोर्चे पर उनके काम से आंका जा रहा है। सादगी और जमीनी अपनापन आपको एक बार सत्ता की कुर्सी तक तो पहुंचा सकता है; लेकिन दोबारा चुनाव जीतने के लिए नतीजे ही काम आते हैं (बशर्ते चुनाव आयोग ही आपकी जेब में न हो)।



धीरे-धीरे लेकिन निश्चित रूप से, प्रकाश सिंह बादल, अमरिंदर सिंह और सुनील जाखड़ जैसे 'एलीट' नेताओं की जगह भगवंत सिंह मान, अमृतपाल सिंह और चरणजीत चन्नी ने ले ली है

इस बीच पुराना कुलीन वर्ग भी इस नई

जुबान को सीखने की कोशिश कर रहा है। राहुल गांधी ने ‘नामदार’ और थोपी गई छवि को उतार फेंकने के लिए कन्याकुमारी से कश्मीर तक पूरे देश की खाक छानी, सत्ता-प्रतिष्ठान को ललकारा और खुद को युवा पीढ़ी का चहेता व संघ का सबसे बड़ा विरोधी साबित किया। पंजाब में जहां सुखपाल खैरा और बिक्रम मजीठिया निडर जन-आंदोलनकारियों का चोला ओढ़ रहे हैं, वहीं प्रताप सिंह बाजवा, अमरिंदर सिंह राजा वडिंग, सुखबीर बादल और कैप्टन अमरिंदर सिंह जैसे पुराने दिग्गज आज भी जनता से तार जोड़ने के लिए जूझ रहे हैं।

बीते दशक का सबक यह नहीं है कि पंजाब कुलीनों के मुकाबले किसी भी आम आदमी को सिर-आंखों पर बैठा लेता है। सबक यह है कि पंजाब ने राजनीतिक दूरी, बेरुखी और अहंकार के खिलाफ खुली बगावत का ऐलान कर दिया है। पारंपरिक रसूखदार आज भी वापसी कर सकते हैं-लेकिन तभी, जब वे अपने वातानुकूलित ड्राईंग-रूमों से बाहर निकलें और गांव की चौपाल में बिछे तख्तपोश पर आम अवाग के साथ कंधे से कंधा मिलाकर बैठना सीखें। ■

हरजेट्हर पाल सिंह एमबीबीएस चॉलेंजर, वडौला ने इतिहास पलटो है और राजनीतिक कम्प्लेक्सों 'पंजाब थिंक' के निदिशक है

नशे की समस्या या राजनीतिक पूंजी?

चुनाव से पहले हर पार्टी इस मुद्दे पर सबसे ज़्यादा ध्यान देती है और चुनाव के बाद उसे सुलझाने में संघर्ष करती है

हरजिंदर

दिसंबर 2015 में चलते हैं। तख़्त दमदमा साहिब के पास तलवंडी साबो में एक रैली को संबोधित करते हुए कैप्टन अमरिंदर सिंह ने दावा ठोका था कि सत्ता में आने के चार हफ्ते के भीतर वह पंजाब में नशे के कारोबार की कमर तोड़ देंगे। 2017 में वह मुख्यमंत्री बनकर लौटे। सामने नशे की लौ के भंवर में फंसा पंजाब था। आज वह उस दौरान नशे के खिलाफ उठाए गए कदमों की फेहरिस्त जरूर गिना सकते हैं, लेकिन नशे के कारोबार की कमर नहीं टूटी। अब जब विधानसभा चुनाव में करीब चार महीने बाकी हैं तो पंजाब में फिर वैसा ही सपना बेचा जा रहा है- नशामुक्त पंजाब का।

अमरिंदर सिंह अब भाजपा में हैं। भाजपा ने हाल ही में 13 दिन की राज्यव्यापी 'नशा मुक्त पंजाब यात्रा' निकाली। मकसद था- नशे के मुद्दे को वोट में बदलना। हरियाणा, राजस्थान और उत्तराखंड के मुख्यमंत्रियों को मैदान में उतारा गया। पार्टी अध्यक्ष नितिन नबीन और केन्द्रीय गृह मंत्री अमित शाह भी अभियान का हिस्सा बने। नशे की लत से तबाह परिवारों के सदस्यों को मंच पर लाया गया ताकि मुद्दे में भावनात्मक वजन भी जुड़ जाए।

यात्रा खत्म होने के करीब अमरिंदर ने द ट्रिव्यून के पत्रकारों से टाउन-हॉल शैली में बातचीत की। वहां उन्होंने एक ऐसी बात कही जो पूरे अभियान पर सवालिया निशान लगा देती है- “भाजपा पंजाब को समझ ही नहीं सकी है।”

नशे का मुद्दा इतना बड़ा है कि कोई दल उसे दूसरी पार्टी के हवाले करने को तैयार नहीं। पंजाब के हाईवे किनारे लगे होर्डिंग्स पर नशे के खिलाफ जंग चल रही है। हर दल साबित करने में जुटा है कि असली लड़ाई वही लड़ रहा है।

मुख्यमंत्री भगवंत मान इस संवेदनशील मुद्दे की राजनीतिक कीमत समझते हैं।

उन्होंने विपक्ष पर आरोप लगाया है कि वह जानबूझकर पंजाब को नशे से तबाह राज्य के रूप में पेश कर रहा है। डीजीपी गौरव यादव आंकड़ों के साथ सरकार का बचाव करते हैं। उनके मुताबिक, 1 मार्च 2025 से एनडीपीएस एकट के तहत 7,582 एफआईआर दर्ज हुईं और सजा की दर 89 फीसदी रही। सरकार इन्हीं आंकड़ों को ‘युद्ध नशेया विरुद्ध’ अभियान की सफलता के सबूत के तौर पर पेश कर रही है। लेकिन हर कोई इन आंकड़ों से संतुष्ट नहीं है।

आलोचकों का कहना है कि नशे का संकट सिर्फ एफआईआर और सजा की दर से नहीं समझा जा सकता। सवाल यह भी है कि सरकार उन आवाजों के साथ क्या करती है जो उसकी नाकामी पर सवाल उठाती हैं। नशा विरोधी कार्यकर्ता मोहनजीत सिंह ने मुख्यमंत्री को काला झंडा दिखाया था। आरोप है कि पुलिस ने उन्हें प्रताड़ित किया।

आलोचकों का कहना है कि सरकार की नशा नीति पर सवाल उठाने वालों के लिए

मुश्किलें खड़ी हो जाती हैं।

सात सितंबर को 50 वर्षीय गुलजार सिंह की आत्महत्या ने इस बहस को और तीखा कर दिया। आरोप है कि एक दिन पहले, 6 सितंबर को एक कार्यक्रम में उन्होंने अपने इलाके में नशे की सप्लाई को लेकर वित्त मंत्री हरपाल सिंह चीमा से सवाल किया था और उसके बाद उन्हें परेशान किया गया। गुलजार किसी राजनीतिक दल के कार्यकर्ता नहीं थे। वह एक नशेड़ी के पिता थे। उनका मुद्दा किसी पार्टी का नहीं, उनके घर का था।

इस आत्महत्या ने पंजाब के उन हजारों परिवारों के दर्द को आवाज दी है जिन्हें लगता है कि उनका दुख तब तक नहीं सुना जाता जब तक वह सत्ता को असहज न करे।

इस घटना के बाद पंजाब कांग्रेस पहली बार इस मुद्दे पर एकजुट होकर सामने आई। पंजाब के प्रभारी एआईसीसी महासचिव सचिन पायलट ने आम आदमी पार्टी सरकार और भाजपा के नेतृत्व वाली केन्द्र सरकार दोनों पर हमला किया। उन्होंने याद दिलाया कि 2022



चुनाव का समय सभी राजनीतिक दलों के लिए नारों का समय होता है

अब इस्स के मुद्दे पर शोर

मचाये वाली सभी पार्टियां

राज्य और केन्द्र में अकेले या

साझेदारी में सत्ता में रह चुकी हैं



उच्च शिक्षा की चरमराती इमारत

सत्य निकेतन का हादसा उच्च शिक्षा के पूरे सरकारी तंत्र की गहरी संरचनात्मक विफलता का है खौफनाक लक्षण

नवनीत शर्मा और अनामिका

सत्य निकेतन की घटना ने उन लोगों के सामने कई असहज प्रश्न खड़े कर दिए हैं, जिनके हाथ व्यवस्था की बागडोर है (बशर्ते वे उनका सामना करने की हिम्मत जुटा पाएं)। 6 सितंबर को पांच मंजिला इमारत के ढहने से निर्माण सामग्री की घंटिया गुणवत्ता, अनधिकृत निर्माण और दिल्ली विश्वविद्यालय के छात्रों के लिए पर्याप्त छात्रावास सुविधाओं के अभाव से जुड़े पुराने विवाद पर ध्यान फिर केन्द्रित हो गया है। उस दिन रविवार था, जिसने साउथ कैम्पस के पास महंगे पेइंग गेट (पीजी) में रहने वाले छात्रों के लिए जोखिम को और बढ़ा दिया। इस हादसे में कम-से-कम सात लोगों की जान चली गई और कई अन्य गंभीर रूप से घायल हो गए।

मीडिया और उसके विशेषज्ञ-जिनमें ज्योतिषियों से लेकर वास्तुकार तक शामिल हैं-गला फाड़-फाड़कर चिल्लाए, लेकिन हम जानते हैं कि धूल का यह गुबार छंटेते ही सब कुछ फिर ‘सामान्य’ (यानी उदासीन और असंवेदनशील) हो जाएगा। लगभग तीन दशक पहले स्कूली बच्चों को ले जा रही एक डीटीसी बस यमुना नदी में गिर गई थी और 30 विद्यार्थियों की मौत हो गई थी। तब भी ऐसी ही बहस हुई थी। एक पैनलिरस्ट ने तो यहां तक कहा कि अगर बस नवंबर के बजाय अप्रैल-मई में गिरी होती, तो इतने हताहत नहीं होते क्योंकि उस समय यमुना में पानी का स्तर कम होता।

इन तथ्यांकथित बहसों से कुछ बुनियादी सवाल पूरी तरह गायब रहे। विद्यार्थियों को उच्च शिक्षा में ‘उत्कृष्टता’ हासिल करने के लिए सैकड़ों किलोमीटर की दूरी तय करके महानगरीय केन्द्रों तक जानी ही क्यों पड़ता है? ‘कम्युनिटी कॉलेज’ की अवधारणा का क्या हुआ? कोठारी आयोग की सबसे क्रांतिकारी सिफारिश-‘समान विद्यालय प्रणाली’ (जिसके तहत एक इलाके के सभी बच्चों को वहीं पास के स्कूल में पढ़ना था)- को बहुत पहले ही रद्दी की टोकरी में फेंक दिया गया। हम आज भी विकेन्द्रीकृत, सुलभ और सार्वजनिक रूप से वित्त पोषित उच्च शिक्षा के उस बुनियादी नजरिये का इंतजार ही कर रहे हैं।

इन बहसों ने देश में उच्च शिक्षा के ‘वित्तपोषण’ के सवाल से भी पूरी तरह मुंह मोड़ रखा है। शिक्षा के लिए सार्वजनिक आवंटन में

लगातार कमी का सीधा भौतिक असर कक्षाओं, छात्रावासों, प्रयोगशालाओं, पुस्तकालयों और अन्य बुनियादी सुविधाओं पर पड़ता है। केन्द्रीय बजट 2024–25 इसका एक ज्वलंत उदाहरण है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (यूजीसी) के लिए वित्तीय आवंटन 2023–24 के संशोधित अनुमान में 6,409 करोड़ से घटाकर 2024–25 में 2,500 करोड़ कर दिया गया, यानी लगभग 61फीसद की भारी कटौती। उच्च शिक्षा के कुल आवंटन में भी पिछले वर्ष के संशोधित अनुमान की तुलना में 9,600 करोड़ से अधिक की कटौती की गई।

उच्च शिक्षा में सार्वजनिक निवेश की प्रत्येक कटौती का सीधा जमीनी असर होता है। इसका अर्थ है-कम नए छात्रावासों का निर्माण, मौजूदा भवनों का बदतर रखरखाव और बढ़ते विद्यार्थियों को समाप्योजित करने की सिकुड़ती क्षमता। जब विश्वविद्यालय छात्रावास उपलब्ध नहीं करा पाते, तो विद्यार्थी पीजी, किराये के कमरों या कामचलाऊ आवासों में जाने को विवश होते हैं। इस प्रकार विद्यार्थियों के आवास की जिम्मेदारी एक ऐसे निजी बाजार को सौंप दी जाती है, जो अक्सर सुरक्षा की तुलना में मुनाफे को प्राथमिकता देता है। सस्ते आवास की यह मांग शिक्षा व्यवस्था स्वयं पैदा करती है, लेकिन इसकी लागत मकान मालिकों और अंततः विद्यार्थियों पर डाल दी जाती है। अतिरिक्त मंजिलें तान दी जाती हैं और सुरक्षा नियमों को ताक पर रख दिया जाता है। इसलिए सवाल केवल यह नहीं है कि एक इमारत क्यों गिरी, बल्कि यह भी है कि बजट की किन प्राथमिकताओं ने ऐसे हादसे की जमीन तैयार की।

राष्ट्रीय राजधानी दिल्ली में उच्च शिक्षा के पांच लाख से अधिक विद्यार्थी हैं, जिनमें लगभग दो-तिहाई बाहर से आते हैं। दिल्ली विश्वविद्यालय के 91 कॉलेजों में से केवल 20 कॉलेज ही छात्रावास की सुविधा प्रदान करते हैं, जहां 2.45 लाख से अधिक नियमित विद्यार्थियों के लिए बमुश्किल 7,000 छात्रावास सीटें हैं। मिरांडा हाउस अपने 5,375 विद्यार्थियों में से केवल 370 को छात्रावास दे पाता है; वहीं श्री वेंकटेश्वर कॉलेज में 4,600 विद्यार्थियों के लिए 150 छात्रावास सीटें हैं। राम लाल आनंद और सत्यवती जैसे कॉलेजों में तो छात्रावास की सुविधा ही नहीं है।

जब विश्वविद्यालय सभी विद्यार्थियों को आवास उपलब्ध कराने में असमर्थ रहता है, तो बाहर से आने वाले विद्यार्थियों के लिए पेइंग गेस्ट आवास, निजी छात्रावास या किराये के कमरे ही विकल्प रह जाते हैं। यह केवल एक असुविधा नहीं- उच्च शिक्षा प्राप्त करने वालों पर थोपा गया एक अतिरिक्त आर्थिक बोझ है। ‘गुणवत्तापूर्ण’ शिक्षा की लागत में अब उस संस्थान के निकट रहने के लिए ठिकाना तलाशने का भारी खर्च भी शामिल होता जा रहा है।

इसलिए सत्य निकेतन इमारत हादसे के शिकार छात्र केवल भवन मालिकों और नगर निगमों के बीच अनियंत्रित, अव्यवस्थित और भ्रष्ट गठजोड़ के ही शिकार नहीं हैं। वे भारत में उच्च शिक्षा के असमान और असंतुलित विकास की भी भेंट चढ़े हैं। जो पैसे दे सकते हैं, वे उत्कृष्ट संस्थानों और बेहतर सुविधाओं तक पहुंच बना लेते हैं; और जो सक्षम नहीं हैं तथा उपेक्षित और अविकसित भारत के देवास या औरैया जैसी जगहों से आते हैं, उन्हें दड़बों जैसे कमरों में दंस दिया जाता है।

आर्थिक और सांस्कृतिक पूंजी के लाभों को अक्सर ‘योग्यता’ समझ लिया जाता है। जो विद्यार्थी उस भाषा, आत्मविश्वास, सांस्कृतिक समझ, सामाजिक संपर्कों और ज्ञान के रूपों के साथ आता है जिन्हें अभिजात्य संस्थान महत्व देते हैं, उसे आसानी से ‘मेधावी’ मान लिया जाता है। इसके विपरीत, जो विद्यार्थी इस सांस्कृतिक पूंजी के बिना पहुंचता है, उसे कम सक्षम, कम परिष्कृत या कम योग्य आंका जाता

है-भले ही अंतर क्षमता में न होकर उन असमान परिस्थितियों में हो जिनमें उस क्षमता को गढ़ा गया है। इस प्रकार जिसे योग्यता के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, वह अक्सर विशेषाधिकार का संचित लाभ होता है, जिसे बाद में व्यक्तिगत उपलब्धि का जामा पहना दिया जाता है।

आर्थिक और सांस्कृतिक पूंजी के इसी असमान वितरण से उच्च शिक्षा के भीतर वर्ण जैसी एक पदानुक्रमित व्यवस्था बन जाती है। आईआईटी, आईआईएम और केन्द्रीय विश्वविद्यालय मलाईदार परत बनते हैं, जबकि राज्य विश्वविद्यालयों और कॉलेजों को जो कुछ बचता है उसी के सहारे छोड़ दिया जाता है। सरकार गुणवत्तापूर्ण शिक्षा की यह समानांतर व्यवस्था क्यों तैयार कर रही है? वह अपने ही उच्च शिक्षण संस्थानों की उपेक्षा क्यों कर रही है- क्या इसका मकसद

जो व्यवस्था विद्यार्थियों को समझौता करने को विवश करती है, वह शिक्षा तक पहुंच को असमान बनाती है



सवाल केवल यह नहीं है कि एक इमारत क्यों गिरी, यह भी है कि बजट में किन प्राथमिकताओं ने ऐसे हादसे की जमीन तैयार की

[फोटो: किरण शर्मा](#)

है-भले ही अंतर क्षमता में न होकर उन असमान परिस्थितियों में हो जिनमें उस क्षमता को गढ़ा गया है। इस प्रकार जिसे योग्यता के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, वह अक्सर विशेषाधिकार का संचित लाभ होता है, जिसे बाद में व्यक्तिगत उपलब्धि का जामा पहना दिया जाता है।

आर्थिक और सांस्कृतिक पूंजी के इसी असमान वितरण से उच्च शिक्षा के भीतर वर्ण जैसी एक पदानुक्रमित व्यवस्था बन जाती है। आईआईटी, आईआईएम और केन्द्रीय विश्वविद्यालय मलाईदार परत बनते हैं, जबकि राज्य विश्वविद्यालयों और कॉलेजों को जो कुछ बचता है उसी के सहारे छोड़ दिया जाता है। सरकार गुणवत्तापूर्ण शिक्षा की यह समानांतर व्यवस्था क्यों तैयार कर रही है? वह अपने ही उच्च शिक्षण संस्थानों की उपेक्षा क्यों कर रही है- क्या इसका मकसद

उनका निजीकरण करना है या विदेशी विश्वविद्यालयों को स्थानीय परिसर खोलने की सुविधा देना है, जो उनके ‘खास ग्राहकों’ को आकर्षित कर सकें?

यह बात ध्यान देने की है कि समस्या केवल यह नहीं है कि एक भवन अवैध रूप से बना था या किसी नगर निगम निकाय ने कार्रवाई नहीं की। जिम्मेदार लोगों को निश्चित रूप से जवाबदेह ठहराया जाना चाहिए, लेकिन केवल यहीं रुक जाना उस समस्या को व्यक्तिगत बना देना होगा जो मूलतः एक संरचनात्मक समस्या है। सवाल सिर्फ इतना नहीं है कि इमारत क्यों गिरी? सवाल यह भी है कि विद्यार्थियों को वहां रहने के लिए क्यों मजबूर होना पड़ा? राज्य विश्वविद्यालयों को इस स्तर तक खस्ताहाल क्यों होने दिया गया कि बेहतर शिक्षा के लिए अपना गृह नगर या राज्य छोड़ना ही एकमात्र

रास्ता दिखने लगा?

जो व्यवस्था विद्यार्थियों को पलायन करने, भारी किराया भरने और असुरक्षित आवास से समझौता करने के लिए विवश करती है, वह शिक्षा तक पहुंच को ही असमान बना देती है। सत्य निकेतन उन सपनों के ढहने का प्रतीक है, जिन्हें लेकर समूचे भारत के लोग देश की उच्च शिक्षा प्रणाली का हिस्सा बनने की आकांक्षा पालते हैं। यह उस वादे का ढहना है कि प्रतिभा, आकांक्षा और कठिन परिश्रम के बल पर विद्या के द्वार सबके लिए समान रूप से खुलने चाहिए- चाहे कोई किसी भी पृष्ठभूमि से आता हो। ■

नवनीत शर्मा केन्द्रीय विश्वविद्यालय हिमाचल प्रदेश, फर्गुसॉन में अध्ययन करते हैं। अनामिका आईआईटी बॉम्बे-मैकला विश्वविद्यालय, ऑस्ट्रेलिया से पीएचडी है



संवेदनशील महाद्वीपीय क्षेत्र में व्यापक खनन की अनुमति से अभूतपूर्व संकट खड़ा हो गया है

पंकज चतुर्वेदी

अंडमान और निकोबार द्वीप समूह अपनी प्राचीन जैव-विविधता, अद्वितीय उष्णकटिबंधीय (ट्रॉपिकल) वर्षावनों और अति-संवेदनशील आदिम जनजातियों के लिए दुनिया भर में जाने जाते हैं। लेकिन केन्द्र सरकार इसे नष्ट कर देने पर उतारू है।

सरकार 92,000 करोड़ रुपये की लागत से यहां मेगा-इंफ्रास्ट्रक्चर प्रोजेक्ट को शुरू करने का जतन कर रही है। इससे होने वाले पर्यावरण के नाश के मद्देनजर कुछ चिंतित और सजग लोग इसे रोकने की यथासंभव कोशिश कर रहे हैं। अभी सरकार इससे उबर भी नहीं रह पा रही कि उसने हाल ही में इस संवेदनशील महाद्वीपीय क्षेत्र में व्यापक खनन और औद्योगिक गतिविधियों को अनुमति दे दी है। साफ है कि सरकार ने इसे ख्वामखाह मूंडू की लड़ाई मान लिया है।

ध्यान रहे कि एनजीटी (नेशनल ग्रीन ट्रिब्यूनल) ने 16 फरवरी, 2026 को ग्रेट निकोबार आइलैंड मेगा-इंफ्रास्ट्रक्चर प्रोजेक्ट के लिए पर्यावरण मंजूरी को बरकरार रखा और इससे जुड़ी याचिकाओं को खारिज कर दिया। लेकिन इससे संबंधित याचिकाओं पर कलकत्ता हाईकोर्ट का रुख केन्द्र सरकार

के मनमाफिक नहीं है, इसलिए उसने यहां चल रही कार्यवाही पर रोक लगाने के लिए सुप्रीम कोर्ट में एसएलपी (विशेष अनुमति याचिका) दायर की है। दरअसल, कलकत्ता हाईकोर्ट में यह याचिका रिटायर्ड आईएएस अधिकारी मीना गुप्ता ने दायर की है। वह पर्यावरण के अलावा आदिवासी मामलों के मंत्रालयों में सचिव रही हैं। समझा जा सकता है कि इस मामले को लेकर उनकी जानकारी और चिंता कितनी और क्या हो सकती है। पर केन्द्र ने सुप्रीम कोर्ट में भी यह तर्क दिया है कि मीना गुप्ता के पास लॉकस्टेडी (मुकदमा दायर करने का कानूनी अधिकार) नहीं है और उसने इन याचिकाओं को प्रक्रिया का दुरुपयोग बताया है।

यह तब है जबकि कलकत्ता हाई कोर्ट सरकार की आपत्ति को खारिज करते हुए पहले ही कह चुका है कि याचिकाकर्ता की कमजोर आदिवासी समुदायों की सुरक्षा में पर्याप्त दिलचस्पी है और कोर्ट ने यह भी कहा है कि एक बड़े मूल्य वाले प्रोजेक्ट की न्यायिक समीक्षा हो सकती है। सुप्रीम कोर्ट में इस मसले पर 5 अक्टूबर को सुनवाई होने की संभावना है।

यह मामला अभी लंबित ही है कि सरकार ने इस संवेदनशील महाद्वीपीय क्षेत्र

में व्यापक खनन और औद्योगिक गतिविधियों को अनुमति दे दी है जिससे अभूतपूर्व संकट खड़ा हो गया है। इस खनन और विकास परियोजना के कारण द्वीप के नाजुक पारिस्थितिक तंत्र, लाखों सघन वृक्षों, दुर्लभ प्रजातियों के प्राकृतिक आवासों और विशाल प्रवाल भित्तियों (कोरल रीफ्स) के हमेशा के लिए नष्ट होने का गंभीर खतरा पैदा हो गया है। इससे इस द्वीप पर रहने वाली शोम्पेन और निकोबारी जैसी विशेष रूप से संकटग्रस्त जनजातियों का अस्तित्व भी पूरी तरह से खतरे में पड़ गया है, क्योंकि उनको पारंपरिक भूमि और प्राकृतिक संसाधनों पर बाहरी दखल से उनके विलुप्त होने की आशंका बढ़ गई है। विकास और आत्मनिर्भरता के नाम पर उठाया गया यह कदम निकोबार के मूल पर्यावरण को अपूरणीय क्षति पहुंचाने की दिशा में आगे बढ़ रहा है।

इस आदेश में ग्रेट निकोबार द्वीप के अपतटीय क्षेत्र में 1,632 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र को बहुधात्विक पिंडिकाओं (पॉलिमेटलिक नॉड्यूलस) और ऑक्सीजन, सिलिकॉन, एल्युमिनियम और लोहा जैसे भूपर्पटी (क्रस्ट) खनिजों की खोज को अधिसूचित किया गया है। इसमें अंडमान सागर में स्थित 1,000 वर्ग किलोमीटर के वेस्ट

निकोबार में निर्माण के बाद माइनिंग की भी अनुमति

मेगा-इंफ्रास्ट्रक्चर प्रोजेक्ट से पारिस्थितिकी और जनजातियों पर मंडराता संकट और गहरा

सेवेल रिज-01 और 632 वर्ग किलोमीटर के सेवेल राइज-01 ब्लॉकों की पहचान की गई है। अनुमानतः इस क्षेत्र में 41.7 लाख टन निकेल, 29.9 लाख टन तांबा, 51.2 लाख टन कोबाल्ट और 9.22 करोड़ टन मैंगनीज जैसे दुर्लभ खनिजों का दोहन करने की योजना है। हालांकि प्रशासनिक स्तर पर इसे आयात पर निर्भरता कम करने के प्रयास के रूप में पेश किया जा रहा है, लेकिन यह आधिकारिक गजट सीधे तौर पर उस प्रक्रिया पर मुहर लगाता है जो द्वीप के विनाश का कारण बन रही है।

निकोबार द्वीप समूह के भौगोलिक और पारिस्थितिकीय स्वरूप को अधुष्ण रखना वैश्विक पर्यावरण के लिए अनिवार्य है। यह क्षेत्र करोड़ों वर्षों से एक अनूठे कार्बन सिंक के रूप में काम कर रहा है। यहां बड़े आकार वाले लेटरबैक कछुओं जैसी दुर्लभ प्रजातियां पाई जाती हैं। ये समुद्री कछुओं की सात प्रजातियों में सबसे बड़े और सबसे भारी होते हैं, जिनका वजन 900 किलोग्राम तक हो सकता है। ये केवल इन्हीं तटीय खाड़ियों में प्रजनन करती हैं। इन्हें भारतीय वन्यजीव संरक्षण अधिनियम, 1972 की अनुसूची 1 में रखा गया है, लेकिन तटीय विकास और बंदरगाह परियोजनाओं के कारण इनके आवासों पर खतरा मंडरा रहा है।

जब इस नए राजपत्रित खनन आदेश को ग्रेट निकोबार मेगा इंफ्रास्ट्रक्चर परियोजना के साथ मिलाकर देखा जाता है, तो तबाही का दायरा और स्पष्ट हो जाता है। लगभग 130 वर्ग किलोमीटर के सघन वनों की कटाई से करीब 10 लाख प्राचीन वृक्ष नष्ट होंगे, जिससे द्वीप का सूक्ष्म-जलवायु का गणित पूरी तरह बिगड़ जाएगा। इसके साथ ही, समुद्र तल से बहुधात्विक पिंडिकाओं को निकालने के लिए की जाने वाली गहरे समुद्र की ड्रेजिंग

से भारी मात्रा में फैली गाद और तलछट सूर्य के प्रकाश को रोककर प्रवाल भित्तियों का दम घोट देगी, जिससे संपूर्ण समुद्री खाद्य श्रृंखला ध्वस्त हो जाएगी। इसके अतिरिक्त, यह द्वीप सिस्मोनिक जोन-5 जैसी अत्यधिक संवेदनशील भूकंपीय श्रेणी में स्थित है, जहां 2004 की भयंकर सुनामी का केन्द्र था। ऐसे में भारी उल्खनन प्राकृतिक आपदाओं के जोखिम को अत्यधिक बढ़ा देता है।

इन सबसे यहां की सदियों पुरानी आदिम जनजातियों के अस्तित्व पर संकट मंडरा रहा है। ग्रेट निकोबार द्वीप विशेष रूप से संकटग्रस्त जनजातीय समूह शोम्पेन का एकमात्र प्राकृतिक आवास है। इनकी कुल जनसंख्या मात्र 200 से 300 के बीच रह गई है। शोम्पेन जनजाति आधुनिक दुनिया से पूरी तरह अलग-थलग रहकर इन्हीं वर्षावनों पर निर्भर जीवन जीती है। हालांकि कागजों पर सीधी बेदखली न करने की बात कही जाती

है, परंतु उनके ट्राइबल रिजर्व क्षेत्र में भारी मशीनों, औद्योगिकीकरण और बाहरी लोगों के आगमन से उनका प्राकृतिक जीवन चक्र छिन्न-भिन्न हो जाएगा और बिना प्रतिरोधक क्षमता के बाहरी संक्रमण फैलने से इस पूरी जनजाति के विलुप्त होने का खतरा पैदा हो जाएगा। 2004 की सुनामी के समय इन्हें दूसरी जगह शिफ्ट कर दिया गया था, पर 22 साल बाद भी वे अपनी पैतृक भूमि पर वापसी का इंतजार कर रहे हैं। इससे निकोबारी समुदाय के वन अधिकार अधिनियम, 2006 के तहत मिलने वाले विधिक अधिकारों की अनदेखी हो रही है। कलकत्ता हाईकोर्ट में इस मसले पर भी सुनवाई हो रही है जिस पर रोक के लिए केन्द्र ने सुप्रीम कोर्ट का रुख किया है।

सरकार मलक्का जलडमरूमध्य के पास रणनीतिक सैन्य उपस्थिति, ब्लू इकोनॉमी और 84,084 करोड़ रुपये की समुद्र मंथन जैसी योजनाओं के जरिये ऊर्जा और खनिज सुरक्षा हासिल करने के तर्क दे रही है। लेकिन पर्यावरणविदों का साफ मानना है कि द्वीप के संवेदनशील पारिस्थितिक संतुलन को नष्ट कर हासिल की गई कोई भी रणनीतिक बढ़त टिकाऊ नहीं हो सकती। संयुक्त राष्ट्र का सागर विज्ञान दशक (2021-2030) भी संसाधनों के अंधी दौड़ में दोहन के बजाय समुद्रों के सतत संरक्षण का आह्वान करता है।

21 सितंबर 2026 का यह राजपत्रित आदेश और उसके बाद की परिस्थितियां साफ बताती हैं कि अगर खनिजों और तात्कालिक आर्थिक लाभ के लिए निकोबार के प्राचीन जंगलों, प्रवाल भित्तियों और शोम्पेन जैसी अनमोल मानवीय धरोहर को गंवा दिया गया, तो यह ऐसा विनाश होगा जिसकी भरपाई कभी नहीं हो पाएगी। ■

मेगा-इंफ्रास्ट्रक्चर प्रोजेक्ट पर कलकत्ता हाईकोर्ट का रुख केन्द्र सरकार के मनमाफिक नहीं, इसलिए वह सुप्रीम कोर्ट आ गई है



खुद शिकार हो रहे बुलडोजर राज के शिकारी

अयोध्या के जनौरा नाके पर घरों और दुकानोंको बुलडोजर से ढहाने पर भाजपा नेताओं को मुंह छिपाना पड़ रहा

कृष्ण प्रताप सिंह

अब यह नई बात नहीं रह गई है। नई जगहों पर भी ऐसा हो रहा है। ‘संडे नवजीवन’ के गत (27 सितंबर के) अंक में मिनी बंदोपाध्याय ने ‘बुलडोजर की उलटी पड़ती चाल और हताशा’ शीर्षक से प्रकाशित अपनी टिप्पणी में विस्तार से बताया है कि कैसे यह उल्टी चाल भारतीय जनता पार्टी के अध्यक्ष नितिन नबीन के 21-22 सितंबर के मेरठ और सहारनपुर दौरे पर भारी पड़ी और किस तरह उसके कारण उनको अपने काफिले के साथ ‘जेसीबी के (तथाकथित) गार्ड ऑफ ऑनर’ से नजरें बचाकर निकल जाना पड़ा।

संयोग देखिए कि लगभग उसी समय अयोध्या में चौदहकोसी परिक्रमा मार्ग को चौड़ा करने के सिलसिले में 20-21 सितंबर की रात पहले फैजाबाद कहलाने वाले क्षेत्र के जनौरा नाके पर की गई ग्यारह घरों और दुकानों वगैरह को बुलडोज करने की कार्रवाई के सिलसिले में भी भाजपा नेताओं को पहले मुंह छिपाना, फिर डैमेज कंट्रोल की कवायदों पर उतरना पड़ा। कार्रवाई से प्रभावित लोगों की लम्पो-चप्पो पर भी।

ऐसा करना उनकी मजबूरी थी, क्योंकि इस मामले में बुलडोजर किसी ऐसी जमात पर नहीं गरजे थे कि वे डीठ होकर उनके गरजने का जश्न मनाते और उसके प्रभावितों के जले पर नमक छिड़कते। वे उनके ‘अपनों’ पर गरजे थे-उन्हें दिए गए इस आश्वासन के बावजूद कि ‘आश्वस्त रहें, पूरा न्याय होगा’- और प्रभावितों में अयोध्या के तीन बार के भाजपा पार्षद मुरारी यादव भी थे, जो भले ही दूसरी जमातों के घरों और दुकानों पर बुलडोजर चलते देखकर अपनी पार्टी के साथ खुश हुआ करते थे, बात अपने पर आई तो बहुत कातर होकर रोने और बिफरने लगे थे।

इस मामले में भाजपा नेताओं को इसलिए भी मुंह छिपाना पड़ रहा था कि मुरारी यादव समेत ज्यादातर प्रभावितों के भाजपा से पुराने जुड़ाव के बावजूद विपक्षी समाजवादी पार्टी (सपा) उनके पक्ष में आगे आ गई थी। उसके नेता और प्रदेश के भूतपूर्व मंत्री तेज

नारायण पांडेय ने उनमें से कई को लखनऊ ले जाकर सपा के मुखिया अखिलेश यादव से बात कराई और एक-एक लाख रुपये की राहत राशि भी दिलवाई थी।

उनके इस मूव से भाजपा नेता डर गए थे कि इस तरह उनके अपनों के नाराज होकर पार्टी से दूर जाने का सिलसिला शुरू हुआ तो कौन जाने कि विधानसभा चुनाव में क्या हो? कहीं उनकी नाराजगी से पार्टी की लोकसभा चुनाव की शिकस्त की विधानसभा चुनाव में पुनरावृत्ति हो गई तो?

इस डर से वे डैमेज कंट्रोल पर उतरे तो गोदी मीडिया की मार्फत प्रभावितों के लिए समुचित मुआवजा, काम-धंधे के लिए दुकानें और बरसात काटने के लिए टिन शेड वगैरह की सुविधा देने का प्रचार शुरू करा दिया। लेकिन बात नहीं बनी क्योंकि प्रभावित ‘पूरे न्याय’ की मांग करने और आरोप लगाने लगे कि आधे घंटे की सूचना पर तोड़ दिए गए उनके घरों से आलमारियां, बक्से और उनमें रखे जेवर एवं अन्य कीमती सामान भी उठा ले जाते गए हैं, जबकि उनके लिए दुकानों,

प्रभावितों में तीन बार के भाजपा पार्षद मुरारी यादव भी थे, जो भले ही दूसरी जमातों के घरों और दुकानों पर बुलडोजर चलते देखकर खुश हुआ करते थे, बात अपने पर आई तो बहुत कातर होकर रोने और बिफरने लगे थे।

प्रभावितों में तीन बार के भाजपा पार्षद मुरारी यादव भी थे, जो भले ही दूसरी जमातों के घरों और दुकानों पर बुलडोजर चलते देखकर खुश हुआ करते थे, बात अपने पर आई तो बिफरने लगे थे

टिनशेडों और मुआवजे की घोषणा पूरी तरह हवा हवाई ही है।

गौरतलब है कि इससे पहले भाजपा नेताओं द्वारा इन प्रभावितों से कहा गया था कि चूंकि वे उनके ‘अपने’ हैं, इसलिए जिस परिक्रमा मार्ग को चौड़ा किया जाना है, उसके बीच से दोनों ओर समान चौड़ाई में तोड़फोड़ होगी, जिससे उनका कम से कम नुकसान होगा। लेकिन रात में अचानक ऐसे सारे आश्वासन भुलाकर भारी पुलिस बल की उपस्थिति में मार्ग के एक ओर स्थित उनके मकानों को एकदम से बुलडोज कर दिया गया।

इससे ये प्रभावित तो हलकान और परेशान हुए ही, अनेक अन्य नागरिक भी इस अंदेश से त्रस्त होने लगे कि अब उनके घरों का जाने क्या हो। इस चक्कर में उनका अपने घरों में इत्मीनान, अधिकार एवं आत्मविश्वास के साथ रहना दूषर हो गया, जो अभी भी दूषर ही है।

समाजवादी पार्टी के स्थानीय नेता सूर्यकांत बताते हैं कि समस्या इसलिए और बड़ी हो गई है कि ‘न अपील, न दलील, न वकील’ की तर्ज पर घर, मकान और दुकान वगैरह बुलडोज करने की अंधाधुंध कार्रवाइयों ने लोगों को इतना त्रस्त कर दिया है कि उनका मनोविज्ञान तक बिगड़ गया है।

कोई दो साल पहले कुकरैल नदी पुनर्जीवन परियोजना के तहत लखनऊ के पंतनगर, रहीमनगर,अबरार नगर और इंद्रप्रस्थ आदि में ध्वस्तीकरण के लिए चिह्नित घरों पर बुलडोजर की कार्रवाई रोक दिए जाने के बाद भी समाचार माध्यमों ने इस सरकार की तथाकथित दयालुता का ऐसा ही प्रचार कर दावा किया था कि उससे उन घरों में रह रहे लोग आह्लादित हो उठे हैं।

सच्चाई यह है कि पिछले नौ सालों से बुलडोजरों से पीड़ित प्रदेशवासी, वे गांवों के निवासी हों या शहरों के, बेघर हों तब तो मुसीबत में रहते ही हैं, घर बनवा रखे हों तो भी उनको सुकून मयस्सर नहीं होता। कारण यह कि उनमें से अनेक अपने घरों को कभी भी अवैध बताकर ढहा दिए जाने के अंदेशों के बीच रहने को अभिशप्त हैं।

प्रदेश में बुलडोजर राज से पहले तक दो व्यक्ति झगड़ रहे होते और उनमें कोई



जनौरा में उनके घरों और दुकानों को भी तोड़ा गया जो पूर्व की ऐसी कार्रवाइयों पर खुशियां मनाते थे

शातिराना दिखाते हुए दूसरे को धूल चटा या मिट्टी में मिला देने की धमकियों तक जा पहुंचता और दूसरे के लिए उसकी यह अति नाकाबिल-ए -बर्दाश्त हो जाती तो वह भी तमककर कह देता था कि ‘चलो-चलो, बहुत देखे हैं तुम्हारे जैसे। तुम मेरा घर गिरा दोगे क्या?’ तब शातिराना दिखाने वाला झेंपकर मुंह छिपाने लग जाता था। उसकी यह कहने की हिम्मत नहीं होती थी कि हां, वह उसका घर गिरा देगा। क्योंकि यह बात उसके बूते की नहीं होती थी। कारण कि तब तक किसी के द्वारा भी किसी का घर गिराना इतना आसान या सामान्य नहीं हुआ था।

लेकिन अब बुलडोजर राज में घर गिराना इतना सामान्य और आसान हो गया है और उसके चलते इतने समाजशास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक कुप्रभाव उत्पन्न हो गए हैं कि नागरिकों का ‘तुम मेरा घर गिरा दोगे क्या?’

पूछने का आत्मविश्वास ही जाता रहा है।

कहते हैं कि पहले अब्दुल ने यह आत्मविश्वास गंवाया और अब अजीत भी गंवा बैठा है। तिस पर अब यह इक्का- दुक्का घरों का मामला भी नहीं रह गया है। बस्तियों तक का कुछ ठिकाना नहीं कि कब उन्हें अवैध करार देकर ढहा दिया जाए और उनके निवासी सड़क पर आ जाएं।

कई मामलों में तो नागरिक अपने अवैध करार दिए गये घरों की भूमि की रजिस्ट्री, भवन का मानचित्र, गुह कर, बिजली बिल और जल मूल्य की अदायगी की रसीदें और अदालतों के स्थगनादेश वगैरह दिखाते रह जाते हैं और देखने वालों को उनका यह मानवीय पहलू भी नहीं दिखाई देता कि उनके घर गिरा दिए जाएंगे तो वे जाएंगे कहाँ? यह भी नहीं कि कई लोग एक घर बनाने में ही टूट गए होते हैं, वे समुचित मुआवजा पा भी जाएं तो दूसरा घर कैसे बनाएंगे?

काश, योगी सरकार समझ पाती कि रोटी और कपड़े के साथ घर मनुष्य की तीन प्राथमिक जरूरतों में शामिल है और वह सिर्फ ‘मकान’ नहीं है। ‘अपने घर’ की बात करें तो उसका अरमान महज चार दीवारों और एक छत से पूरा नहीं होता। अन्यथा एक शायर को उसे पूरा करने के लिए यह प्रार्थना नहीं करनी पड़ती : ‘मेरे खुदा मुझे इतना तो मो’तबर कर दे/मैं जिस मकान में रहता हूं उसको घर कर दे।’

शहरयार ने अकारण नहीं कहा है कि ‘घर की तामीर तसव्वुर ही में हो सकती है’ और यह तसव्वुर बुलडोजर राज में दुर्लभ होता जा रहा है। हां, इस राज में ‘दर्द-ए-हिजरत के सताए हुए लोगों को कहीं/साया-ए-दर भी नजर आए तो घर लगता है।’ लेकिन क्या करें, बंद कमरा हो अगर सांस घुटी जाती है, खिड़कियां खोलें तो जहरीली हवा आती है। ■



बाढ़ से बेहाल और विज्ञापनों की बाढ़

नदियों की बाढ़ ने जनता को भले परेशान कर रखा हो, लेकिन विज्ञापनों की बाढ़ यह परेशानी आसानी से बहा ले जाती है

प्रणव चौधरी

कहते हैं कि 1990 के दशक के मध्य मशहूर अमेरिकी फोटो जर्नालिस्ट स्टीव मैककरी बिहार के बुरी तरह बाढ़ग्रस्त इलाकों में कई दिन घूमते रहे लेकिन कोई तस्वीर लिए बिना लौट आए थे। उनके एक स्थानीय गाइड का दावा है कि वह चार दिनों प्रभावित इलाकों में घूमते रहे, लेकिन एक बार भी अपना कैमरा नहीं निकाला। अब उन्हें तो माफ भी कर दें, लेकिन इस भारतीय मीडिया का क्या? क्या राज्य में हर साल आने वाली बाढ़ अब इतनी आम और उबाऊ घटना बन चुकी है कि इसे राष्ट्रीय सुर्खियों में जगह नहीं मिलती?

इस साल बाढ़ से 50 लाख से ज्यादा लोग प्रभावित हुए हैं। कितने ही लोग बेघर हो गए। कुछ ने अपने मवेशियों के साथ तटबंधों या राजमार्गों पर शरण ली है। लोग छतों और पेड़ों पर दिन बिताने को मजबूर हैं। सर्पदंश या जल जनित बीमारियों से मौतें भी हुई होंगी। लेकिन राज्य के बाहर यह सब

कोई खबर नहीं है। क्या इसलिए कि बाढ़ को अब सामान्य घटना मान लिया गया है, जिसे होना ही है? या इसलिए कि मुख्यधारा मीडिया में सरकारी विज्ञापनों की बाढ़ है, और जिसके कारण आपदा प्रबंधन की बदहाली और प्रभावितों की दुर्दशा दिखाने को उसके पास जगह ही नहीं बचती?

मीडिया की बेरुखी ने दो अलग-अलग काम कर रही, दो राजनीतिक पार्टियों पर भी असर डाला। कांग्रेस सेवा दल के लोग फंसे हुए लोगों तक राशन, तिरपाल, पानी साफ करने वाले पैकेट और बच्चों का खाना लेकर नावों से या कई बार पानी में चलकर लोगों तक पहुंचे, या बेघरों को ताजा भोजन देने के लिए कम्युनिटी किचन भी चलाए, तो मीडिया ने इसे खास तवज्जो नहीं दी। ठीक ऐसा ही तब भी हुआ जब केन्द्रीय मंत्री शिवराज सिंह चौहान बार-बार प्रधानमंत्री मोदी का नाम ले रहे थे और भाजपा नेता बाढ़ पीड़ितों से ‘नरेन्द्र मोदी जिंदाबाद’ के नारे लगाने को कह रहे थे।

इस साल एक और दिलचस्प बात यह रही कि कोचिंग संस्थान भी राहत में जुटे दिखे। पटना के ‘खान सर’ को फंसे लोगों और परिवारों को खाने के पैकेट, साफ पानी, दूध और जरूरी दवाइयां बांटते देखा गया। शिक्षक अलख पांडे और उनकी ‘फिजिक्स वाला’ टीम राशन बांटते दिखी; तो कोच रोशन आनंद ने अलग-अलग कॉम्पिटिटिव एग्जाम देने वाले विस्थापित छात्रों को खाना और पढ़ाई का सामान उपलब्ध कराया। बेतरतीब प्रतिसर्पधा की होड़ में जो कोचिंग संस्थान बीते कुछ महीनों में नकारात्मक चर्चा का केन्द्र थे, जाहिर है उनकी मंशा लोगों की धारणा बदलने की भी रही होगी।

बिहार में बाढ़ तब ज्यादा गंभीर हो जाती है, जब नेपाल में भारी बारिश होती है। बिहार का इलाका लगभग समतल है। कोसी, गंडक, बागमती और कमला बलान जैसी हिमालयी नदियां भारी मात्रा में गाद (सिल्ट) लेकर बिहार के मैदानी इलाकों में तेजी से

बहती हैं और अपने पीछे गाद छोड़ जाती हैं। इनका प्रवाह रोकने को तटबंध बने, लेकिन यह स्थायी समाधान नहीं है। ये तटबंध जल-भराव नहीं रोक सकते और टूटते हैं या पानी इनके ऊपर से बहने लगता है, तो घनी आबादी वाले इलाकों में भारी मात्रा में पानी फैल जाता है। विशेषज्ञों मानते हैं कि राज्य को बाढ़-रोधी बनाना ज्यादा व्यावहारिक लक्ष्य होगा। एक आम सुझाव यह भी है कि भारत-नेपाल को मिलकर पूरे नदी तंत्र का प्रबंधन करना चाहिए, जिसमें समय रहते और रियल-टाइम पूर्वानुमान, तलछट की संयुक्त निगरानी और पानी का समन्वित प्रबंधन शामिल हो। भारत में बाढ़ की आशंका वाले इलाकों में से लगभग 17.2 प्रतिशत हिस्सा बिहार में है। राज्य के कुल 94.16 लाख हेक्टेयर इलाके में से 68.80 लाख हेक्टेयर (उत्तरी बिहार का 76 प्रतिशत और दक्षिणी बिहार का 73 प्रतिशत) को अधिकारिक तौर पर बाढ़-संभावित क्षेत्र माना जाता है। हालांकि, कुछ लोगों का मानना है कि यह इंसानों द्वारा पैदा की हुई आपदाएं हैं, जिन्हें होने दिया जाता है।

बाढ़ अब ठेकेदारों, अधिकारियों और राजनेताओं के लिए मुनाफे का धंधा बन गई है। आपातकालीन फंड और खर्च के लिए किसी मंजूरी की जरूरत नहीं होती और न ही इसके लिए नियम-कायदे की परवाह होती है। बाढ़ पीड़ितों की पूरी तरह राहत और पुनर्वास उपायों पर निर्भरता के कारण सरकारी पैसा तो अथाह खर्च होता है, जवाबदेही नाममात्र की होती है।

बिहार में बाढ़ प्रबंधन के जाने-माने विशेषज्ञ डॉ. दिनेश कुमार मिश्र 1937 में पटना में हुई एक ‘बाढ़ कॉन्फ्रेंस’ को याद करते हैं।

बिहार की नदियों पर कई किताबें और मोनोग्राफ लिखने वाले डॉ. मिश्र बताते हैं, “1940 के दशक के मध्य में एक और बैठक हुई थी। आजादी के बाद, दो विशेषज्ञों, डॉ. के.एल. राव और कंवर सेन को चीन भेजा गया, ताकि वे वांग चू नदी के प्रबंधन सिस्टम का अध्ययन कर सकें; जिसने नौ बार अपना रास्ता बदला था।” उन्होंने ‘संडे नवजीवन’

को बताया कि 1986 के बाद से बाढ़ नियंत्रण पर कोई गंभीर चर्चा नहीं हुई है।

ए.एन. सिन्हा इंस्टीट्यूट ऑफ सोशल साइंसेज के पूर्व निदेशक डॉ. डी. एम. दिवाकर भी मानते हैं कि उत्तरी बिहार में बाढ़ इंसानों की वजह से आने वाली आपदा है, जो जल-संसाधनों के अनुचित प्रबंधन का नतीजा है। उनका कहना है कि कोसी के तटबंधों का डिजाइन ही खराब है और ये पानी के प्राकृतिक बहाव के खिलाफ हैं। बाढ़ प्रभावित मधुबनी से ताल्लुक रखने वाले डॉ. दिवाकर बताते हैं कि नेपाल से आने वाली गाद निकालने के लिए चौड़े तटबंधों की जरूरत थी, लेकिन इसके बजाय, उनकी चौड़ाई 6 किलोमीटर से घटाकर डेढ़ किलोमीटर कर दी गई।

वावा चौधरी की ‘अद्भुत’ योजनाएं

रोज एक घोषणा करो, असल समस्याएं दूर रहेंगी। मुख्यमंत्री सम्राट चौधरी की अति-महत्वाकांक्षाओं के पीछे शायद यही सोच है। अप्रैल 2026 में पद संभालने के बाद से, उन्होंने कई योजनाओं की घोषणा की: मुख्य शहरों के आस-पास 12 सैटेलाइट टाउनशिप; वैश्विक कंपनियों को लुभाने के लिए पटना में 4,000 करोड़ की लागत वाला वर्ल्ड ट्रेड सेंटर; अगले पांच सालों में 10,000 इंटरिप्टल यूनिट्स, 700 मॉडल स्कूल और 211 नए डिग्री कॉलेज खोलना; साथ ही डिजिटल शिक्षा, हेल्थ स्क्रीनिंग, महिलाओं के लिए रोजगार और स्टूडेंट्स क्रेडिट कार्ड जैसी सुविधाएं... और भी बहुत कुछ।

मीडिया में जोर-शोर से प्रचारित इन दैनिक घोषणाओं ने बढ़ती अराजकता, युवा असंतोष, महिलाओं से छेड़छाड़ और भ्रष्टाचार के उफान को ढंक दिया है। हालात इतने खराब हैं कि भाजपा के सहयोगी चिराग पासवान ने सार्वजनिक रूप से कह दिया कि उन्हें बिहार में एनडीए का हिस्सा होने पर शर्म आती है।

लोग, खासकर शिक्षाविद जिस बात ने खासा नाराज हैं, वह है 100 असिस्टेंट प्रोफेसरो को एक महीने की ट्रेनिंग के लिए ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी भेजने के ऐलान।

‘चाचा चौधरी’ (जैसा कि उन्हें कहा जाता है) ने दो राज्य यूनिवर्सिटी- पटना में माता सीता महिला यूनिवर्सिटी और बेगूसराय में रामधारी सिंह दिनकर यूनिवर्सिटी के साथ ही एक बिल्कुल नई ‘फिजिक्स यूनिवर्सिटी’ बनाने का भी ऐलान कर रखा है। पटना यूनिवर्सिटी के पूर्व प्रोफेसर ओ.पी. जायसवाल नाराजगी से कहते हैं, “फिजिक्स यूनिवर्सिटी के बारे में किसी ने सुना है? और हमें नए विश्वविद्यालय और कॉलेजों की जरूरत क्यों है जब मौजूदा संस्थान ही फंड और सही बुनियादी ढांचे के संकट से जूझ रहे हैं?”

डॉ. दिवाकर बताते हैं कि शिक्षकों को समय पर वेतन नहीं मिल रहा है और पेंशन में भी देरी हो रही है। बिहार का राजकोपीय घाटा राज्य के सकल घरेलू उत्पाद का तीन प्रतिशत है और उस पर बकाया कर्ज इसका 37 प्रतिशत। राज्य की अपनी कमाई कम है और वह केन्द्रीय फंड पर ज़्यादा निर्भर है। दिवाकर ने कहा कि प्राथमिकताएं तो संस्थागत क्षमता बढ़ाना, वित्तीय समझदारी और जीवन स्तर में सुधार होनी चाहिए थीं।

बिहार के ज्यादातर कॉलेजों में बुनियादी ढांचा हवस्त है, साफ-सुथरे टॉयलेट और पीने के पानी का अभाव है, प्रोफेसरों के पद रिक्त हैं और लाइब्रेरी में नई किताबें खरीदने या जर्नल्स के लिए पैसे नहीं हैं। ऐसे में 100 असिस्टेंट प्रोफेसरों को इंग्लैंड भेजने का क्या तुक? उनका चयन कैसे होगा, उन्हें किस तरह की ट्रेनिंग दी जाएगी और कौन देगा? एक एकेडमिक ने तंज कसते हुए कहा: ‘एजुकेशनल टूरिज्म’ के नाम पर यह एक महंगा ‘पीआर स्टंट’ या मौज-मस्ती वाला टूर ज़्यादा लग रहा।

एक उद्यमी ने कहा, “हम मजाक का पात्र बन गए हैं। पटना से भूटान या नेपाल के लिए एक भी फ्लाइट नहीं है, लेकिन सोनपुर, सुल्तानगंज, रक्सौल, मुजफ्फरपुर, राजगीर, छपरा, भागलपुर जैसे शहरों को हवाई नेटवर्क से जोड़ने की बात हो रही है।” जमीन अधिग्रहण की प्रक्रिया अपने आप में शक पैदा करती है कि यह भी जनता के पैसे की हवस्ती का एक और जरिया है। ■



बिहार में बाढ़ ऐसी घटना बन चुकी है कि इसे राष्ट्रीय सुर्खियों में जगह भी नहीं मिलती

कूटनीतिक व्यवहार से हिल्सा का गायब होना

दुर्गा पूजा पर बांग्लादेशी हिल्सा की खेप रुकने और गुजरात की बेस्वाद मछली की आमद ने द्विपक्षीय कूटनीति की कड़वाहट बढ़ा दी है

फैसल महमूद ढाका और सौरभ सेन कोलकाता

दुर्गा पूजा के मौके पर भारत-बांग्लादेश सीमा के आर-पार होने वाली सबसे प्रतीक्षित गतिविधियों में से एक इस बार नहीं हो रही है। बांग्लादेश ने भारत के लिए हिल्सा (इलिश) की अपनी पारंपरिक विशेष खेप को इस साल मंजूरी नहीं दी और इस तरह दशकों से चली आ रही एक रवायत टूट गई। बीते दो वर्षों के दौरान, जब भारत का बंगाली समुदाय अपने सबसे बड़े उत्सव की तैयारियों में जुटता, ढाका अपनी इस नायाब मछली का सैकड़ों टन भेजने की अनुमति दे देता था, और इस तरह दोनों ओर के इलिश-प्रेमियों की बंदौलत सख्त कूटनीति के लिए जमीन थोड़ी नरम बन जाती थी। अगर दोनों पड़ोसियों के रिश्ते पहले की तुलना में अधिक तल्ख न हुए होते, तो शायद यह कोई बड़ा विवाद न बनता। बीते दो साल शेख हसीना के तख्तापलट के बाद उपजे शून्य में नए सिरे से संतुलन साधने की कवायद में बीते हैं, जिनके नई दिल्ली के साथ ‘असाधारण रूप से घनिष्ठ’ रिश्तों ने एक दशक से अधिक समय तक दोनों देशों के रिश्तों को तय किया था। भारत में शेख हसीना की लगातार मौजूदगी और ढाका की तरफ से उनके प्रत्यर्पण की मांग दोनों देशों के परस्पर रिश्तों की सबसे बड़ी कड़वाहट बनी हुई है। इस संदर्भ में बांग्लादेश द्वारा भारत को हिल्सा के निर्यात पर लगाई गई रोक अहम हो जाती है।

विडंबना यह है कि हाल के दिनों में हिल्सा की धारा उल्टी दिशा में बहती दिखी है। व्यापार प्रवाह के एक असामान्य उलटफेर में, २० जुलाई से २० सितंबर २०२६ के बीच पेद्रापोल-बेनापोल सीमा चौकी के रास्ते करीब ५५३ टन भारतीय हिल्सा बांग्लादेश में दाखिल हुई। इसका बड़ा हिस्सा गुजरात से आया था, जहां नर्मदा घाटी और अरब सागर के तटीय इलाकों में बड़े पैमाने पर हिल्सा हुई। हालांकि २२ सितंबर को बांग्लादेश के मत्स्य विभाग ने १०३ आयात परमिट रद्द करते हुए इस व्यापार पर अचानक ताला जड़ दिया। गुजरात की हिल्सा को नौकरशाही से कहीं

बड़ी चुनौती का सामना करना पड़ा बांग्लादेशियों के पारंपरिक जायके से। लोगों की तीखी शिकायत थी कि आयातित मछली- जिसे कथित तौर पर पच्चा की हिल्सा बताकर बेचा गया- उसमें इलिश की तरह की कसावट, खुशबू और मिठास सिरे से नदारद थी। ढाका के एक भोजन-प्रेमी ने बताया कि गर्म सरसों के तेल में डालते ही उसके टुकड़े बिखर गए। कुछ अन्य लोगों ने उसमें अंडों की अत्यधिक मात्रा होने की शिकायत की, जिससे मांस की स्वाभाविक मिठास खत्म हो जाती है। भले ही यह सस्ती और आकार में बड़ी थी, लेकिन बहुसंख्यक बांग्लादेशियों के लिए गुजरात से आई यह मछली किसी भी लिहाज से ‘इलिश’ नहीं थी।

यह असंतोष केवल बांग्लादेश तक सीमित नहीं है। कोलकाता के मछली थोक व्यापारी भी इस बात से चिंतित हैं कि गुजराती हिल्सा स्थानीय किस्मों को बाजार से बाहर धकेल रही है। फिश इंपोर्टर्स एसोसिएशन के सचिव सैयद अनवर मसूद ने ‘संडे नवजीवन’ से कहा, ‘हमें नहीं मालूम कि खुदरा विंडबना यह है कि हाल के दिनों में हिल्सा की धारा उल्टी दिशा में बहती दिखी है। व्यापार प्रवाह के एक असामान्य उलटफेर में, २० जुलाई से २० सितंबर २०२६ के बीच पेद्रापोल-बेनापोल सीमा चौकी के रास्ते करीब ५५३ टन भारतीय हिल्सा बांग्लादेश में दाखिल हुई। इसका बड़ा हिस्सा गुजरात से आया था, जहां नर्मदा घाटी और अरब सागर के तटीय इलाकों में बड़े पैमाने पर हिल्सा हुई। हालांकि २२ सितंबर को बांग्लादेश के मत्स्य विभाग ने १०३ आयात परमिट रद्द करते हुए इस व्यापार पर अचानक ताला जड़ दिया। गुजरात की हिल्सा को नौकरशाही से कहीं

आज भारत का दक्षिणपंथी धड़ा बांग्लादेशियों को ‘दीमक’ और दुर्गा पूजा में मांसाहार करने वाले भारतीय बंगालियों को ‘पाखंडी’ करार देने में जुटा है

विक्रेता क्या कहकर हिल्सा की बिक्री कर रहे हैं, क्योंकि इस पर हमारा कोई नियंत्रण नहीं है।’ उन्हें अंदेशा है कि गुजराती हिल्सा को वह प्रीमियम भाव नहीं मिल पाएगा।

कोलकाता के प्रमुख फूड ब्लॉगर और इतिहासकार अनिंद्र सुंदर बसु का कहना है, ‘मेरे लिए हिल्सा का मतलब सिर्फ पच्चा, गंगा या कोलाघाट की मछली है। अगर पता चल जाए कि यह गुजरात से आई है, तो मैं कतई नहीं खरीदूंगा।’ बसु के अनुसार हिल्सा बंगाल की अस्मिता, उसके लोक-साहित्य और भोर की पहली किरण के साथ जाल फैकने वाले मछुआरा समाज के संघर्ष का अटूट हिस्सा है। उन्होंने कहा, ‘गुजरात से आने वाली हिल्सा में न वह परिचित जायका है और न सांस्कृतिक स्मृतियां।’

जब तक कोई व्यक्ति बंगाली मानस में हिल्सा के महत्व को न समझे, तब तक ये भावनाएं उसे अतिरंजित या बनावटी लग सकती हैं। इलिश को खाना धैर्य, सलीके और तजुबें की मांग करता है। इसके मांस में बारीक कांटों का ऐसा उलझा हुआ जाल होता है जो किसी सामान्य व्यक्ति को निराश कर दे। लेकिन बंगालियों ने इस चुनौतीपूर्ण और लजीज मछली के इर्द-गिर्द एक पूरा खान-पान रच दिया-सरसों के तीखे झोल में पकी, केले के पत्तों में लिपटी भाप से तैयार, तली हुई, या फिर सब्जियों के साथ पकाई गई मछली। यही नहीं, इसके अंडों को अलग से तलकर परोसना एक खास जायका माना जाता है।

हिल्सा ने अंतरराष्ट्रीय सीमा की लकीरों को हमेशा बेमानी साबित किया है। राजनीति, क्रिकेट या किसी भी अन्य विषय पर तीखी नोकझोंक रखने वाले दोनों देशों के बंगाली उतनी ही शिद्दत से इस बहस में उलझते रहे हैं कि पच्चा की हिल्सा बेहतर है या गंगा की।

संक्षेप में कहें तो हिल्सा केवल एक मछली या जुबान का स्वाद भर नहीं है। यह एक सांस्कृतिक पहचान और कभी-कभार सामाजिक प्रतिष्ठा का पैमाना भी है। हिल्सा से जुड़ी बंगाली नफासत की बात करना एक ऐसी दुनिया में दाखिल होना



इस साल २० जुलाई से २० सितंबर के बीच, ५५३ टन मछली बांग्लादेश पहुंची, जिसमें से ज्यादातर गुजरात से आई थी। २२ सितंबर को १०३ आयात लाइसेंस रद्द कर दिए गए

है जहां स्वाद ग्रंथियां सीमाओं से परे जाकर स्मृतियों, भूगोल और साझा पहचान से एकाकार हो जाती हैं।

शेख हसीना इस साझी दीवानगी को बखूबी समझती थीं। १९९६ में, जब दोनों देशों के बीच ऐतिहासिक गंगा जल-बंटवारा समझौता होने वाला था, उससे ठीक पहले हसीना ने पश्चिम बंगाल के तत्कालीन मुख्यमंत्री ज्योति बसु को हिल्सा की सौगात भेजी थी। आगे चलकर उन्होंने ममता बनर्जी और प्रणब मुखर्जी को भी यह नायाब तोहफा भेजा। २०१२ में बांग्लादेश ने हिल्सा के निर्यात पर पाबंदियां लगाई थीं, लेकिन २०१९ से हसीना सरकार ने दुर्गा पूजा पर छूट देनी शुरू कर दी। २०२१ में बांग्लादेश ने इस पर्व के लिए करीब २,५०० टन मछली का निर्यात किया। अगले ही साल ममता ने ढाका से आए वाणिज्य मंत्री से व्यक्तिगत तौर पर गुजारिश की कि वह हसीनाजी से दोबारा हिल्सा भेजने का अनुरोध करें।

मगर यह हिल्सा कूटनीति एक असहज अंतर्विरोध की बुनियाद पर टिकी थी। बांग्लादेश अपनी राष्ट्रीय थाली की उस नायाब पहचान का निर्यात कर रहा था, जिसे उसके अपने आम लोग खरीदने की हैसियत खोते जा रहे थे। बांग्लादेश में हिल्सा का उत्पादन २०२२-२३ के ५,७१,००० टन से गिरकर २०२४-२५ में ५,००,००० टन रह गया। पश्चिम बंगाल में भी उत्पादन २०२२-२३ के १४,२०० टन से घटकर २०२४-२५ में ८,५३५

केरला को चाहिए काले जादू के खिलाफ कारगर कानून

राज्य आस्था-आधारित जबरदस्ती का सामना करने में अपनी हिचकिचाहट से उबर रहा है

के.ए. शाजी

तांत्रिक-ओझा? चमत्कारी इलाज? झाड़ू-पूंक? वह भी ऐसे राज्य में जिसकी पहचान उच्च साक्षरता, आधुनिक शिक्षा और सामाजिक सुधार आंदोलनों की बुनियाद पर टिकी हो? यही केरला का सबसे विचलित करने वाला अंतर्विरोध है। अपनी तमाम प्रगतिशील चेतना के समानांतर यहां ऐसी स्याह दुनिया सांस ले रही है, जहां लोग अलौकिक ताकतों का दावा करने वाले पाखंडियों के आगे धन-दौलत, जमीन-जायदाद और यहां तक कि जिसम तक खुशी-खुशी सौंप देते हैं।

केरला इसपर कानूनी शिकंजा कसने की तैयारी कर रहा है। वी.डी. सतीशन सरकार को काले जादू, टोना-टोटका और अमानवीय कुप्रथाओं पर रोक लगाने के लिए गठित विशेषज्ञ समिति की सिफारिशें मिल चुकी हैं। इस प्रस्तावित कानून का मकसद वास्तविक धार्मिक आस्था और नुकसान न पहुंचाने वाली सांस्कृतिक परंपराओं को संरक्षण देते हुए उन घातक हरकतों को संज्ञेय अपराध बनाना है, जिन्हें ‘अलौकिक शक्तियों’ के नाम पर अंजाम दिया जाता है।

यह समिति केरल हाईकोर्ट की तल्ख टिप्पणियों के बाद नवंबर २०२५ में बनाई गई थी। पूर्व डीजीपी जैकब पुन्नुस और केरल विधि सुधार आयोग के उपाध्यक्ष, पूर्व कानून सचिव व जिला जज के. शशिधरन नायर की सदस्यता वाली इस समिति पर ऐसे कानून के संवैधानिक पहलुओं की पड़ताल, दूसरे राज्यों के मौजूदा कानूनों का अध्ययन और जस्टिस के.टी. थॉमस की अध्यक्षता वाले २०१९ के विधि सुधार आयोग के पुराने मसौदे की समीक्षा का जन्मा था। समिति के सामने सबसे पेचीदा सवाल था: किसी नागरिक की आस्था को ठेस पहुंचाए बिना, अंधविश्वास के नाम पर होने वाले जुर्म को अपराध के दायरे में कैसे लाएं?

शुरुआती पड़ताल में समिति ने तीन व्यापक श्रेणियों में ३४ प्रथाओं को चिह्नित किया। पहली श्रेणी में हत्या, गंभीर शारीरिक क्षति, यौन अपराध और जानलेवा अनुष्ठान थे। दूसरी श्रेणी का संबंध शारीरिक उत्पीड़न, दबाव और अपमानजनक कृत्यों से था। तीसरी श्रेणी में तंत्र-मंत्र और ओझाई के नाम पर की जाने वाली धोखाधड़ी, ठगी, आर्थिक शोषण और डिजिटल माध्यमों से बरगलाने को रखा गया। अंतिम सिफारिशों में इसे छांटकर २२ विशिष्ट अपराधों

तक सीमित किया गया है, जिनमें नरबलि और मौत का सबब बनने वाले कृत्यों के लिए सख्त से सख्त सजा का प्रावधान है।

विधेयक इस पचड़े में नहीं पड़ता कि किसी की धार्मिक आस्था तर्कसंगत है या अतार्किक। यह सिर्फ उस लक्ष्मण रेखा के पहचानने की कोशिश करता है, जहां आस्था किसी के खिलाफ दबाव, हिंसा या धोखाधड़ी का हथियार बन जाती है।

यह कानून आस्था के नाम पर चलने वाले काले कारोबार से टकराने में बरसों की राजनीतिक हिचकिचाहट और होला-हवाली के बाद सामने आ रहा है। साल २०१९ का मसौदा इस दिशा में सबसे ठोस प्रयास था, लेकिन वह कभी विधानसभा की दहलीज पार नहीं कर पाया। साल २०२२ में पथानमथिट्टा के इलंतूर में हुए दोहरे नरबलि कांड ने- जहां रोसलिन और पद्माम नाम की दो महिलाओं की तांत्रिक विधि से हत्या कर दी गई थी-इस बहस को फिर हवा दे दी। फिर भी, २०२३ में पिनाराई विजयन सरकार ने पुराने विधेयक को आगे न बढ़ाने का फैसला किया।

ऐसे मामलों की फेहरिस्त लंबी है। २०१७ में तिरुवनंतपुरम के नानथानकोड हत्याकांड को कौन भूल सकता है? जब कंडेल जीनसन राजा को अपने ही परिवार के चार सदस्यों की हत्या



चुनौती ऐसा कानून बनाने की है जो संविधान की कसौटी पर खरा उतरे

के आरोप में पकड़ा गया, तो जांचकर्ताओं के मुताबिक वह ‘एस्पूल प्रोजेक्शन’ (सूक्ष्म शरीर यात्रा) और रहस्यमयी रूहानी ताकतों की बातें बड़बड़ा रहा था। २०१८ में इडुक्की के वन्नापुरम में एक ही परिवार के चार लोगों को मौत के घाट उतार दिया गया; जांच में सामने आया कि कल्ल तंत्र-मंत्र और काले जादू के आपसी विवाद से जुड़ा था।

कई बेवसेों को झाड़ू-पूंक के नाम पर बर्बर शारीरिक प्रताड़ना का शिकार होना पड़ता है। जब किसी बीमारी, मानसिक तनाव या घरेलू कलह का ठीकरा किसी ‘बुरी आत्मा’ के सिर फोड़ा जाता है, तो पीड़ित व्यक्ति एक तरफ अन्देखी ताकतों के खौफ और दूसरी तरफ उस ढोंगी पर निर्भरता के बीच पिसकर रह जाता है जो उस साएं को हटाने का झूठा दावा करता है।

प्रस्तावित कानून इसी मनोवैज्ञानिक और अंधविश्वासी तंत्र को अपराध की श्रेणी में लाने की कोशिश करता है, ताकि इसे शोषण का जरिया न बनाया जा सके। केरला में आज ज्योतिष, आस्था से इलाज, रूहानी शक्तियों को खुश करने और तांत्रिक समाधानों का एक फलता-फूलता बाजार तंत्र-मंत्र और काले जादू के आपसी विवाद से जुड़ा था।

खौफ से निजात पाने के लिए इन पाखंडियों की चौखट पर माथा टेकते हैं। कई को यकीन दिला दिया जाता है कि उनकी मूसीबतों की जड़ कोई श्राप, बुरी आत्मा या काला जादू है।

लेखक और सामाजिक विश्लेषक एम.एन. कारस्सेरी कहते हैं, ‘किसी भी मलयालम अखबार का क्लासीफाइड विज्ञापन पन्ना देखिए। अंडाजा हो जाएगा कि जादुई इलाज और चमत्कारी राहत

के विज्ञापनों की कैसी भरमार है!’

साफ है कि केवल साक्षरता ईसान के भीतर अनिश्चितता के डर और चमत्कार की भूख को खत्म नहीं कर सकती। विचारक और लेखक सुनील पी. इलायिडोम का मानना है कि इसकी गंभीर पड़ताल होनी चाहिए कि सुधारवादी आंदोलनों और जन-विज्ञान संगठनों के जरिये दशकों तक वैचारिक रूप से मथने के बावजूद केरला का समाज ‘आज भी अंधविश्वासों को इतनी गहराई से क्यों पाले हुए है।’

मनोचिकित्सक डॉ. अरुण बी. नायर ने इसके एक अन्य स्याह पहलू को उजागर किया है: तंत्र-मंत्र के गोरखधंधे में शामिल शातिर लोग अक्सर सामाजिक स्वीकार्यता को ढाल की तरह इस्तेमाल करते हैं, ताकि उनकी गैर-कानूनी हरकतों और धिनीने अपराधों पर पुलिस या प्रशासन की नजर न पड़े।

केरला का अनूठा सांस्कृतिक ताना-बाना इस विधायी चुनौती को और जटिल बना देता है। यहां की धार्मिक परंपराओं में शरीर में नुकीली वस्तुएं चुभोना, कठोर उपवास, समाधि जैसी अवस्था में जाना, अग्नि-परीक्षा और शारीरिक यातना सहने के कई रूप शामिल हैं, जिन्हें विरासत बताकर सही ठहराया जाता है। ‘थैय्यम’ इसका सबसे प्रत्यक्ष उदाहरण है, जिसे एक ही साथ धार्मिक अनुष्ठान, आस्था की अभिव्यक्ति, लोक-कला और सांस्कृतिक धरोहर के रूप में मान्यता प्राप्त है।

अगर कानून बहुत व्यापक और अस्पष्ट बना दिया गया, तो वह नागरिकों की धार्मिक स्वतंत्रता में गैर-जरूरी दखल बन जाएगा। वहीं, यदि कानून का दायरा बहुत संकरा और लचीला रखा गया, तो वह उन कुप्रथाओं के सामने बेअसर साबित होगा जिन्हें खत्म करने के लिए उसे लाया जा रहा है।

प्रस्तावित कानूनी ढांचा आस्था के बजाय उसके ‘घातक परिणामों’ पर ध्यान केंद्रित करके इस पेंच को सुलझाने की कोशिश करता है। ईश्वर से प्रार्थना करना एक बात है, लेकिन किसी गंभीर बीमार को आधुनिक डॉक्टरों इलाज छोड़ने पर मजबूर करना संगीन जुर्म है। धार्मिक अनुष्ठान करना अलग बात है, लेकिन अनुष्ठान के नाम पर किसी को जलाना, अंग-भंग करना या उसकी जान लेना सीधा अपराध है।

राज्य को इस बहस में उलझने की कतई जरूरत नहीं है कि ईश्वर का अस्तित्व है या नहीं,

किसी ज्योतिषी की भविष्यवाणी कितनी सच है या किसी धार्मिक अनुष्ठान से कोई आध्यात्मिक लाभ मिलता है या नहीं। कानून का सरोकार केवल इससे होना चाहिए कि क्या आस्था की आड़ में किसी नागरिक को छला गया, प्रताड़ित किया गया, घायल किया गया, उसका यौन शोषण हुआ, उसे लूटा गया या उसकी जान ली गई।

इसकी मार उन मासूम बच्चों पर भी पड़ती है जिन्हें जानलेवा टोटकों की भट्टी में झोंक दिया जाता है, उन बेबस औरतों पर पड़ती है जिन्हें ‘डायन’ बताकर प्रताड़ित किया जाता है, उन मरीजों पर पड़ती है जिन्हें समय पर अस्पताल जाने से रोक दिया जाता है, और उन लाचार परिवारों पर पड़ती है जिनकी गाढ़ी कमाई तांत्रिकों की तिजोरियों में भर दी जाती है।

इलायिडोम कहते हैं, ‘केवल कानून से अंधविश्वास खत्म नहीं होगा। कानून उस शख्स को तो सलाखों के पीछे भेज सकता है जो आस्था को हिंसा या धोखाधड़ी का जरिया बनाता है, लेकिन कोई भी कानूनी धारा समाज में वैज्ञानिक चेतना नहीं जगा सकती। इसके लिए स्कूलों, डॉक्टरों, मानसिक स्वास्थ्य विशेषज्ञों, महिला संगठनों, बाल संरक्षण एजेंसियों, पुलिस और पूरे समाज को मिलकर अपनी साझा भूमिका निभानी होगी।’ सामाजिक विश्लेषक प्रो. एम.सी. वशिष्ठ के मुताबिक, ‘सतीशन सरकार के सामने चुनौती सिर्फ कानून पारित करने की नहीं। असली चुनौती ऐसा कानून बनाने की है जो संविधान की कसौटी पर खरा उतरे, जिसके दुरुपयोग की गुंजाइश न हो और जो तांत्रिक शोषण के शिकार को सुरक्षा देने में असरदार हो।’

यह प्रस्तावित कानून शायद केरला के सामाजिक जीवन से अंधविश्वास को रातों-रात खत्म न कर पाए। लेकिन उम्मीद है कि यह कम से कम साफ शब्दों में वह सीमा जरूर खींच देगा जिसे पार करने की इजाजत कानून किसी भी कीमत पर नहीं देगा।

जैसा कि कारस्सेरी ने कहा है, ‘केरला के सामने सवाल यह नहीं है कि लोगों को आस्था की आजादी होनी चाहिए या नहीं। यह तो सबको है। सवाल यह है कि क्या आस्था के नाम पर हिंसा, धोखाधड़ी, मानसिक दबाव और अमानवीय शोषण को सही ठहराने की छूट दी जा सकती है?’ ■

के.ए. शाजी दक्षिण भारत के वरिष्ठ स्वतंत्र फकराई है



हिन्दू जमातों को सुपुर्द किए जा रहे पुस्तक मेले

अगले मेले में स्टॉल लगाने का शुल्क और बढ़ा, हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं के स्टॉल की संख्या और घटेगी

सुभाष गाताड़े

लखनऊ में अभी 12 से 20 सितंबर तक गोमती पुस्तक मेला हुआ। इसका आयोजन नेशनल बुक ट्रस्ट ने किया था। लखनऊ में ही 1 अक्तूबर से शुरू हुआ एक अन्य राष्ट्रीय पुस्तक मेला 11 अक्तूबर तक चलेगा। इसी तरह के आयोजन देश के विभिन्न शहरों में होते रहते हैं। नेशनल बुक ट्रस्ट मेले का आयोजन सरकारी किस्म का होता है जबकि दूसरे आयोजन विभिन्न संस्थाएं प्रकाशकों की मदद से करती हैं। आम तौर पर इनमें बिकने वाली किताबें, यहां होने वाले आयोजन, उनमें होने वाली बातचीत, इनके माहौल आदि से ही आपको लग जाएगा कि ये पहले वाले से किस तरह और क्यों अलग हैं, हालांकि ऐसे आयोजनों पर भी थोड़ी-बहुत तो सरकारी छाया पड़ने ही लगी है।

इसमें शक नहीं कि दिल्ली से लेकर किसी भी शहर में नेशनल बुक ट्रस्ट द्वारा आयोजित होने वाले मेलों में चमक-दमक बढ़ रही है, प्रधानमंत्री के कटआउट के साथ सेल्फी पॉइंट्स की तादाद भी बढ़ रही है, इनके इर्द-गिर्द खाने-पीने के स्टॉलों पर चाय से लेकर सभी आयटमों की कीमते भी बढ़ रही हैं, प्रवेश मुफ्त करने के चलते मेले में पहुंचनेवालों की तादाद भी बढ़ रही है। मगर बारीकी से गौर करें तो पाएंगे कि मेले का स्वरूप रफ्ता-रफ्ता बदला जा रहा है। ट्रस्ट द्वारा दिल्ली में आयोजित होने वाले विश्व पुस्तक मेले का आगाज 1972 में हुआ था। तत्कालीन राष्ट्रपति वि. वो. गिरी ने उसका उदघाटन किया था। यह अकारण नहीं कि प्रकाशन में एकाधिकार की नीतियां वापस लेने' तथा 'पठन-पाठन की संस्कृति और विविधता पर हमलों' पर चिंतित सरोकार संपन्न लेखक, पत्रकार, रचनाकार और प्रबुद्ध पाठक ही नहीं, मेले में नियमित पहुंचनेवाले भी पुस्तक मेले के इस बदलते स्वरूप से चिंतित हैं और उनका आकलन है कि अगर यह सिलसिला जारी रहा तो यह 'समाप्त हो जाएगा'।

पर्वतारोही, ग्राफिक डिजाइनर, साहसभरी यात्राओं के बारे में नियमित तौर पर लिखने वाले और अंग्रेजी तथा हिन्दी में कई किताबों के लेखक राजिन्दर अरोड़ा पिछले दो दशकों से अधिक समय से पुस्तक मेले में नियमित आते रहे हैं। उन्होंने 10 से 18 जनवरी तक दिल्ली में हुए 2026 के पुस्तक मेले के बारे में बेहद भावुक ढंग से लिखा कि 'अगर आप किसी चीज या जगह को जबरदस्त पॉलिश करते जाते हैं, तो मुमकिन है कि वह कुछ समय तक चमके, मगर उसकी आत्मा को चोट पहुंचती है। भारत मंडपम में सालाना होने वाले विश्व पुस्तक मेले को इस साल इसी तरह झेलना पड़ा। भारत मंडपम के पांच हॉलों में फैला पुस्तक मेला गोया 'सैनटाइज्ड, साफ़-सुथरा अस्पताल वॉर्ड' लग रहा था - जहां हर थीम, हर स्टॉल, हर वस्तु, और असहमति रखनेवाला हर नजरिया/ परिप्रेक्ष्य या 'प्रतिकूल/ मुखालिफ किताब को एक 'लीसरी ऑपम' ने यॉक्रिफ ढंग से जांच लिया था और सुनियोजित ढंग से हटा दिया था।'

इस मेले में 'काले चश्मे और यूनिफॉर्म में, असली रायफलों को थामे सैनिकों के दस्ते लगातार मौजूद रहे, जो

‘जीत’ का ऐलान करते तिरंगे के साथ मिल रहे थे; मेले के केन्द्र में तीनों सैन्य दलों का हार्डवेयर भी खड़ा मिला था,’ आर्मर्ड वाहन, अर्जुन बैटल टैंक, आदि, ‘वहां एक बड़े अहांते में युद्धपोत और लड़ाकू विमान भी मौजूद थे।’ वहीं ‘कुछ क्षण के लिए आपको महसूस हो सकता था कि आप पुस्तक मेले में नहीं बल्कि डिफेंस एक्सपो में पहुंचे हैं।’ और यह सब कवायद इसलिए की गई थी कि मेले का फोकस ‘भारत का सैन्य इतिहास’ बनाया गया था।

अगर हम 16 जनवरी से 24 जनवरी 2027 तक दिल्ली में प्रस्तावित पुस्तक मेले की तैयारियों पर गौर करें, तो यह बात आंकड़ों, तथ्यों के जरिये भी समझ आएगी। मिसाल के तौर पर, लेखकों और छोटे प्रकाशनों के लिए न्यूनतम राशि अब 38 हजार 940 रुपये कर दी गई है। वर्ष 2026 में यह 17 हजार 641 रुपये थी। जाहिर है, सीमित बजट से चलने वाले और कई बार परिवर्तनवादी विचारों, आंदोलनों से भी जुड़े रहने वाले छोटे प्रकाशकों और छोटी पत्रिकाओं के लिए वहां स्टॉल लगाना असंभव होता जाएगा। पहले छोटे प्रकाशनों के लिए स्टैंड भी मिलते थे। पिछले एक दशक से अधिक समय से स्टैंड की व्यवस्था बंद कर दी गई है। मतलब, स्टॉल बुकिंग के साथ इसके लिए अलग से खर्च करना होगा।

मेले के बदलते स्वरूप को हिन्दी और विभिन्न भाषाओं के स्टॉलों की उपस्थिति के हिसाब से भी देखा जा सकता है। हिन्दी स्टॉलों की संख्या 2014 में 323 थी। वर्ष 2026 आते-आते यह 156 हो गई। भारतीय भाषाओं की मौजूदगी भी घटती जा रही है। वर्ष 2026 में यहां केवल आठ भारतीय भाषाओं की उपस्थिति थी। 2025 मेले की तुलना में 6 भाषाएं कम हो गई थीं। ये सभी आंकड़े पुस्तक मेले के आयोजक नेशनल बुक ट्रस्ट की तरफ से मेलों के लिए जारी साहित्य, डायरेक्टरी से ही लिए गए हैं।

पुस्तक मेला 2014 में दक्षिणपंथी हुकूमत के आगमन के बाद से ही धीरे-धीरे केसरिया रंग में रंगता जा रहा है। स्टॉलों के जरिये अंधश्रद्धा का प्रसार होता दिखेगा, नफरत भरी बातों का प्रचार होता मिलेगा। उदाहरण के लिए, 2020 में पुस्तक मेले के अंदर ही ‘नक्षत्र 2020’ नाम से एक समूचा हॉल बना था। यहां ‘विशेषज्ञ’ कहलाने वाले लोग ‘भविष्यवाणियां’ बेच रहे थे। ये कथित विशेषज्ञ लोगों की हस्तरेखाएं देखकर, उनके ग्रहों की दशा-दिशा की अनर्गल बातें सुनाकर उन्हें रंगबिरंगे पत्थर भी बेच रहे थे। जिस मुल्क का संविधान वैज्ञानिक चिंतन के प्रचार-प्रसार को नागरिकों के बुनियादी कर्तव्यों में शुमार करता है और जहां डॉ. दाभोलकर, प्रो. कलबुर्गी, कॉमरेड गोविंद पानसरे और गौरी लंकेश-जैसे तर्कवादी, प्रगतिशील विचारों के हिमायतियों को महज इसलिए मारा गया कि वे ऐसी तमाम बातों का प्रचार करते थे, अंधश्रद्धा और अवेज्ञानिकता का विरोध करते थे, वहां के सरकारी आयोजन में ऐसा होना विडंबना ही है। इसका उत्तर कोई नहीं देता कि जहां राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय स्तर के लेखक, विद्वान आते हों, वहां अंध श्रद्धा के प्रचार-प्रसार के लिए मंच प्रदान करना पुस्तक मेले के उद्देश्य से किस तरह जुड़ता है।

बात सिर्फ अंधश्रद्धा को बढ़ावा देने तक सीमित नहीं थी, वहां नेशनल बुक ट्रस्ट के सौजन्य से तमाम आध्यात्मिक और धार्मिक संगठनों की भी गोया बाढ़ आई है, जो अपने बड़े बड़े स्टॉल लगाते हैं और केसरिया पहने उनके कर्मचारी/ साधु अपना साहित्य बेचने से लेकर 'आत्मा के शुद्धिकरण' के लिए अन्य बहुत सारी सामग्री बेचते रहते हैं।

दरअसल, 2014 में हिन्दुत्व वर्चस्ववादी हुकूमत कायम होने के बाद 'न्यू इंडिया' के प्लान को अमल करने के खयाल से पुस्तक मेले के इस रैंडिकल रूपांतरण के बीज डाले गए थे। प्रगति मैदान तीन विशाल सभागार थे: हॉल आफ नेशनस, हॉल ऑफ इंडस्ट्रीज और नेहरू पैविलियन। यहां पुस्तक मेले, ट्रेड फेयर तथा अन्य भव्य कार्यक्रमों के आयोजन होते थे। उन्हें ध्वस्त करने की योजना के तहत भारत मंडपम जैसा हॉल बनाया गया जहां सत्ताधारी पार्टी की बैठकें, सम्मेलन आदि अधिक होते हैं।

दरअसल, ये विशाल हॉल आजादी की पचीसवीं सालगिरह- 1972 के अवसर पर बने थे। उन्हें आधुनिकता और तरक्की के प्रतीक के तौर पर दुनिया भर में सराहा जाता था। अंतरराष्ट्रीय स्तर पर आधुनिक वास्तुशिल्प के इतिहास में इन्हें भारत के अहम योगदान के तौर पर भी समझा जाता था। इस अवसर को सेलिब्रेट करने के लिए विशेष पोस्टेज स्टाम्प

दिल्ली के विश्व पुस्तक मेले में हिन्दी

स्टॉलों की संख्या 2014 में 323 थी।

वर्ष 2026 आते-आते यह 156 हो गई।

वर्ष 2026 में यहां केवल आठ भारतीय

भाषाओं की उपस्थिति थी जबकि 2025 में

13 भाषाएं थीं

शरद ऋतु आई...लेकिन उफ, यह कुआर का घाम

यह शरद ऋतु का प्रताप ही है कि उसके आते ही धरती निहाल हो उठती है और शायर पुलकित

कृष्ण प्रताप सिंह

ये पंक्तियां पढ़ने जा रहे हैं तो पल भर रुकिए और आसमान की ओर देखिए : बादलों से अठखेलियां करती वे काली-काली घटाएं, प्रणयकामी नायक जिनको अपनी नायिकाओं की उन्मुक्त केशराशि की उपमा बनाए हुए थे, सफेद हुईं नहीं कि बेचारी बरखा ने जवानी की खुमारी से बाहर आकर अपना बुढ़ापा स्वीकार कर लिया है और उसके ऐसा करते ही, क्वार का महीना अपने सहचरों के साथ यह एलान करता हुआ आ धमका है : ‘बरखा बिगत शरद ऋतु आई’।

जनसाधारण कुआर कहता है उसे, कभी-कभी कुमार भी, जबकि भद्र जन आश्विन। बताते हैं कि इसका आश्विन नाम अश्विनी कुमार कहलाने वाले देवताओं के दो वैद्यों के नाम पर रखा गया। इन्हीं वैद्यों के नाम पर सत्ताईस नक्षत्रों में पहला ‘अश्विनी’ कहलाता है।

अपने देश में संवत्सर यानी वर्ष के महीनों के नाम भी उसी नक्षत्र के नाम पर रखे गए हैं, जिस नक्षत्र में उस माह का चंद्रमा पूर्णिमा के दिन संचरण करता है। मिसाल के तौर पर आश्विन-पूर्णिमा के दिन चंद्रमा अश्विनी नक्षत्र में तो कार्तिक-पूर्णिमा को कुतिका, मार्गशीर्ष-पूर्णिमा को मृगशिरा और पौष-पूर्णिमा को पुष्य नक्षत्र में संचरण करता है।

बहरहाल, अभी आप क्वार के सहचरों की सुनिए। वे कह रहे हैं कि शरद ऋतु अकेली नहीं आई है। किलोल करते खंजन भी उसके साथ हैं, कलरव करते दूसरे पक्षी भी। जैसे ही यह ऋतु आती है, वैसे ही (जैसा कि बाबा तुलसीदास लिख गए हैं 'जानि सरद ऋतु खंजन आए!') उसकी टोह लगाकर खंजन भी आ जाते हैं। बाबा की माने तो वैसे, जैसे सुअवसर पाते ही पुण्य प्रकट हो जाते हैं।

वैसे, कोई भी आश्विन में प्रकट होने की क्यों न सोचे? उसकी सहचरी शरद ने आते ही बरखा के जाए कीचड़ का नामोनिशान तक नहीं रहने दिया है- घर आंगन में कहीं भी नहीं। आकाश को तो इतना निर्मल कर दिया है कि कवियों से उसकी शोभा ही कही नहीं जाती।

तिसर पर उसका प्रताप देखिए : उसके आते ही धरती निहाल हो उठी है और शायर पुलकित। एक शायर तो उसे साथ लाने वाले आश्विन या कि क्वार की प्रशस्ति भी गांने लगा है :



क्वार आता है तो शरद ही नहीं आती, भीषण तपिश भी आती है

इस दिन कौमुदी व्रत भी किया जाता है। कहते हैं कि भगवान श्रीकृष्ण इसी पूर्णिमा की महानिशा में विहार का निश्चय करके वृंदावन के निधिवन पहुंचे थे और सोलह हजार गोपियों के साथ दिव्य प्रेम का महारास रचाया था। कई अंचलों में उस महारास की स्मृति में शरद पूर्णिमा की रात उनको प्रकाश और पुष्पों से सज्जित नौका में विहार कराया जाता है।

बड़े-बुजुर्ग कहते हैं कि जिसने शरद पूर्णिमा का चंद्रमा नहीं देखा, उसने एक अद्भुत प्राकृतिक आनंद का अवसर खो दिया, क्योंकि न शरद पूर्णिमा के चंद्रमा जैसा दूसरा चंद्रमा न शरद पूर्णिमा की चांदनी जैसी दूसरी चांदनी।

मान्यता है कि वर्ष की बारह, अधिवर्ष हो तो तेरह, पूर्णिमाओं में अकेली शरद पूर्णिमा के चंद्रमा की ही सोलह कलाएं होती हैं और वही अमृत वर्षा करता है। इसलिए इस पूर्णिमा को उसका अमृतकाल कहा जाता है और बहुत से लोग शरद पूर्णिमा पर खीर बनाकर चांदनी में रखते और आधी रात के बाद अमृत रूप में उसका सेवन करते हैं-इस विश्वास के साथ कि इससे उनके रोगों का नाश होगा और निरोगी काया मिलेगी, जो संसार का सबसे बड़ा सुख है।

महालक्ष्मी के आराधक इस पूर्णिमा पर उनका जन्मदिन मनाते और बताते हैं कि इस रात वे पृथ्वी पर आती हैं तो जो भी जागता मिलता है, उसे सुख-समृद्धि का आशीर्वाद या वरदान देती हैं।

हां, क्वार महज शरद को नहीं लाया है-छोटे दिन और लंबी रातें भी लाया है। जैसे-जैसे उसकी रातें लंबी होती हैं, विरही-वियोगी नायक-नायिकाओं के त्रास भी लंबे होते जाते हैं। लेकिन संयोग बनता है तो वह उन्हें भरपूर विहार के बाद सुखपूर्वक पांव पैलाकर कहें या चादर तानकर बेफिक्री से गहरी नींद सोने के भरपूर मौके भी प्रदान करता है।

यह और बात है कि गांवों में दादियां और गृहिणियां शिकायत करती नहीं थकतीं कि क्वार के छोटे दिन उनके चूल्हे-चौंके के लिए ही कम पड़ जाते हैं, फिर वे बाकी के काम कब और कैसे निपटाएं।

अवधी में इस बाबत एक कहावत भी कही जाती है: ‘कुआर चुल्हिया दुआर’ यानी क्वार के छोटे दिन इतने छोटे हो जाते हैं कि चूल्हे के द्वार पर बैठे-बैठे ही बीत जाते हैं। लेकिन ऋतुओं के जानकार इसको इन्तिहाए-इश्क समझते हैं, उसे

भी जारी किए गए थे। पुस्तक मेले का आयोजन इन्हीं हॉल में होते थे। दुनिया के अग्रणी वास्तुशिल्पियों, बुद्धिजीवियों ने इन हॉल के ध्वस्तीकरण की योजना को स्थगित करने की अपील प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी से की थी। उन्होंने यह भी कहा था कि समूचे प्रगति मैदान में महज 2 फीसद जगह घेर रहे इन हॉल का संरक्षण करना और आगे ले जाना यह इस पीढ़ी की जिम्मेदारी है।

अग्रणी वास्तुशिल्पी राज रेवल ने हॉल ऑफ नेशनस और हॉल ऑफ इंडस्ट्रीज का नक्शा बनाया था। इसके लिए उन्हें अंतरराष्ट्रीय पुरस्कार मिले थे। नेहरू पैविलियन का नक्शा अग्रणी वास्तुशिल्पी हबीब रहमान ने किया था जिन्होंने नेहरू काल की तमाम इमारतों का खाका बनाया था। हबीब रहमान के बेटे राम रहमान इतिहासकार और फोटोग्राफर हैं। उन्होंने कहा था कि इन्हें ध्वस्त करने की योजना विचारधारा से प्रेरित है। उन्होंने कहा था कि 'यह, दरअसल, नेहरू काल की विरासत और नेहरू के आधुनिक भारत के प्रतीकों को नष्ट करने का संगठित प्रयास है।'

क्या यह कहना मुनासिब होगा कि विश्व पुस्तक मेले में लाया जा रहा यह रैंडिकल बदलाव भी नेहरू की ऐतिहासिक विरासत को धूमिल कर हिन्दू राष्ट्र के एजेंडे को ही मजबूती दिलाने की कवायद का हिस्सा है? ■

